चौक, जौनपुर
उत्तर प्रदेश

मूल्य ३)
तीन रुपये

मुद्रक—
लक्ष्मीचन्द्र गुप्त
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय,
लहरतारा, वाराणसी–४

परिषद्-ग्रन्थमालाके इस द्वितीय प्रकाशनकी पठनीय सामग्रीसे पाठकोंको आनन्द आया और उनको लाभ भी हुआ, ऐसा अनुभव हम इसलिए कर रहे हैं कि प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया था; किन्तु इसके साथ ही हमारे कुछ मित्रोंने यह भी सुझाव दिया कि पुस्तक यदि अच्छे कागजपर छापकर कम दाम रखा जाय तो छात्रोंका बड़ा लाभ होगा, वे इसे बड़ी सरलतासे खरीद सकेंगे। कितने ही छात्र अर्थाभावके कारण बड़ी उपयोगी पुस्तक होनेपर भी खरीदनेसे वंचित रह सकते हैं। यह सुझाव मुझे मान्य हो गया, इसी बातको ध्यानमें रखते हुए मैंने कुछ निबंध कम करके यह संस्करण निकाला है।

चार निबन्ध कम कर दिए गए हैं 'तुलसीकी भाषा—एक वैज्ञानिक दृष्टि'—श्रीदेवकीनन्दन श्रीवास्तव कृत, 'शून्य'पर गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किए गए श्री डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित कृत, 'व्याकरणमें स्फोटवाद' प्रो० श्रीबदरीप्रसाद वाजपेयी कृत और 'झाँसीकी रानी' श्रीविनयकुमार गुप्त कृत। ये निबन्ध भी अपना विशेष महत्व रखते हैं और उच्चस्तरके छात्रोंके लिए बड़े ही उपयोगी भी हैं, किन्तु चाहते हुए भी पुस्तककी आकार वृद्धिके कारण नहीं दिए जा रहे हैं। इन निबंधोंका संग्रह अलगसे निकालनेकी बात सोच रहा हूँ, क्योंकि उच्चकोटिके ज्ञानवर्द्धक ये निबन्ध उपयुक्त विद्वानोंकी महती कृपाके कारण ही मुझे उपलब्ध हो सके हैं। सच बात तो यह है कि यदि इनका भी अलगसे हमने प्रकाशन किया, तो ये निबन्ध भी हमारे प्रकाशनके

स्तरोन्नयनके कारण होंगे, अतः इस समय हमारी कठिनाई-को ध्यानमें रखकर पाठकगण क्षमा करेंगे।

अवैतनिक सम्पादक 'कमलेश'जी तथा उन सभी विद्वानोंका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ, जिनकी श्रेष्ठ रचनाएँ इस पुस्तकमें छपी हैं एवं दूसरी जो छपनेके लिए हमारे पास सुरक्षित पड़ी हैं।

अन्तमें मैं राष्ट्र-भाषा मुद्रणालय, लहरतारा वाराणसीके अधीक्षक श्रीलक्ष्मीचन्द गुप्तजीको इसलिए धन्यवाद देना चाहता हूँ, जो उन्होंने ठीक समयपर और बड़ी ही तत्परतासे शुद्ध तथा स्वच्छ छापनेका सच्चे हृदयसे प्रयत्न किया है और जो मैं इनके कार्योंसे संतुष्ट हूँ।

हिन्दी साहित्य-सृजन-परिषद
चौक, जौनपुर

—सत्यदेव चतुर्वेदी

विषय-सूची

साहित्य-परीक्षण

१—भारतीय काव्य-मत

भारतीय साहित्य-शास्त्र का समय निरूपण करना सहज कार्य नहीं है। भारतीय विद्वानों ने अपने सम्बन्ध में इतनी थोड़ी चर्चा की है कि उसके आधार पर उनकी जीवनी पर कुछ भी प्रकाश डालना कठिन हो जाता है। उन विद्वानों के लिखे हुए ग्रन्थ आज अपने मूलरूप में प्राप्त नहीं हैं, उनमें बाद के लोगों ने काफी प्रक्षिप्त अंश जोड़ दिए हैं। यही कारण है कि जब हम वर्तमानरूपमें किसी ग्रन्थके समय पर विचार करने लगते हैं, तब हमें प्रक्षिप्त अंश के कारण वह ग्रन्थ काफी बाद का लिखा ज्ञात होता है। किसी ग्रन्थके कौनसे अंश अधिक प्राचीन हैं और कौनसे कम, यह निर्णय करना आसान नहीं होता। हमारे देश में ऐसी प्रथा भी रही है, जिसमें ग्रन्थों का मूल-स्वरूप सुरक्षित नहीं रह पाया। प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियों का भी पूरा-पूरा शोध नहीं हो पाया है; और बहुत से ग्रन्थ नष्ट भी हो गये हैं। ऐसी अवस्थामें भारतीय साहित्य-शास्त्रका पूरा विकासक्रम उपस्थित करना अत्यन्त दुःसाध्य कार्य है। ग्रन्थों तथा उनके लेखकोंका समय निरूपण करना भी कठिन है। विद्वानोंने अपनी शोधों द्वारा अभी तक जो सामग्री प्रस्तुतकी है, हम उसीका उपयोग कर सकते हैं और जब तक नवीन शोध द्वारा नई सामग्री प्रस्तुत नहीं की जाती, तब तक हमें उसीसे काम चलाना होगा।

भारतीय काव्य-शास्त्रका प्रारम्भिक युग प्रायः उन्हीं शताब्दियों में रहा होगा, जिन शताब्दियोंमें काव्यात्मक रचनाओंका आरम्भ हुआ था। भारत के सर्वप्रथम ग्रन्थ वेदोंमें काव्यकी बड़ी ही सजीव एवं सुन्दर सूक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वेदोंके पश्चात् दो अन्यतम महाकवियों द्वारा लिखे गए दो काव्यों—रामायण और महाभारत—का समय आता है। वेदों के के सम्बन्धमें विद्वान् एकमत नहीं हैं; किन्तु इस बातसे सभी

चे ईसापूर्व एक हजार वर्षके पीछे की रचना नहीं हैं। रामायण और महाभारतकी तिथियाँ भी ईसापूर्व छठीं और चौथी शताब्दी प्रायः स्वीकारकी गई है। यदि इन ग्रन्थोंका यह लेखन-काल हम सही मान लें, तो सन्देह नहीं कि इसी समयके लगभग साहित्य-सम्बन्धी विवेचनाका कार्य भी आरम्भ हो गया होगा। हमारे महाकाव्योंमें काव्यके सभी अंगोंकी ऐसी सुन्दर परम्परा पाई जाती है कि साहित्य-शास्त्रकारों द्वारा इस परम्पराका उपयोग न किया जाना बड़े आश्चर्यकी बात होगी। पाणिनिके व्याकरणसे इस बातका आभास मिलता है कि उस समय तक उपमा आदि अलंकारोंका नामकरण हो चुका था तथा काव्यके विभिन्न स्वरूपों पर चर्चाएँ चल रही थीं। इसके पश्चात् ही हमें भरत मुनि प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ मिलताहै, जो अन्य सामग्रीके अभावमें साहित्य-विवेचनाका पहला ग्रन्थ भी माना जा सकता है। *भरत मुनिने अपने नाट्य-शास्त्रमें जिन नाट्य समीक्षकोंका उल्लेख किया है,* उनकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भरत मुनिके समय तक काव्य इतना विकसित हो चुका था, कि उसकी समीक्षाके लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत थी।

भरत मुनिके समयके सम्बन्धमें अभीतक कोई मत स्थिर नहीं हो पाया है। भारतीय विद्वान् उनके नाट्यशास्त्रको ईसापूर्व दूसरी शताब्दीका ग्रन्थ मानते हैं, यद्यपि ग्रन्थके कुछ भाग बहुत पीछेके भी हैं। वर्तमान् रूपमें नाट्यशास्त्र अनेक शैलियोंमें (सूत्र, कारिका तथा भाष्यके रूपमें) प्राप्त होता है। श्लोकोंके साथ कहीं-कहीं गद्य अंश भी जुड़े हुए हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान् रूपमें प्रस्तुत ग्रन्थका कुछ अंश भले ही ईसापूर्व दूसरी शताब्दीका हो, किन्तु मूल रचना इससे भी पहिले की रही होगी। भरत मुनिको देवताओंका नाट्याचार्य कहा जाना हमारे इस कथनकी पुष्टि करता है। सम्भव है कि उनकी मूल कृतिके आधार पर वर्तमान् नाट्यशास्त्र का निर्माण किया गया हो।

यद्यपि भरत मुनिने मुख्यतः नाटकके अंगों-उपांगों आदिकी ही चर्चाकी है, किन्तु उनके नाट्यशास्त्रमें कुछ प्रकरण ऐसे भी हैं, जिनमें साहित्य-सिद्धान्तोंका विवेचन है। विशेषतः नाट्यशास्त्रके छठे और सातवें प्रकरणोंमें

रस और उसके अवयवोंका विवेचन किया गया है और सोलहवें प्रकरणमें अलंकारोंकी चर्चाकी गई है। अठारहवें प्रकरणमें रूपकोंके दस विभाग और बीसवें प्रकरणमें नाटकीय वृत्तियोंका उल्लेख है। उपर्युक्त प्रकरण सैद्धान्तिक विवेचनाकी दृष्टिसे अधिक उपयोगी है। इनमें छठाँ, सातवाँ एवं सोलहवाँ प्रकरण अधिक महत्त्वपूर्ण है।

रसके विवेचनमें भरतका प्रसिद्ध वाक्य 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगात् रस निष्पत्तिः' बड़े महत्वका है। अलंकारोंकी परिगणना करते हुए भरत मुनिने उपमा, रूपक, यमक और दीपकको ही अलंकार माना है। इससे यही प्रतीत होता है कि उस समय तक अलंकारोंका निरूपण प्रारम्भिक अवस्थामें ही था।

नाट्यशास्त्रके उपर्युक्त अध्यायोंको यदि भरत मुनिकी मौलिक कृति माना जाय, तो यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त रूपमें रसका निरूपण ईसाकी कमसे कम दो शताब्दी पूर्व हो चुका था तथा साहित्यके अन्य अंगोंपर भी चर्चा होनी प्रारम्भ हो चुकी थी।

भरत मुनिके पश्चात् कई शताब्दियों तक किसी प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षक द्वारा प्रणीत कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। बादके कुछ लेखकों द्वारा यत्र-तत्र कुछ नामोंका उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु ग्रन्थोंके अभावमें केवल कुछ नामोंके ही आधार पर इस बातका निर्णय नहीं किया जा सकता कि इन शताब्दियोंमें साहित्यिक विवेचना किस क्रमसे आगे बढ़ी। भरत मुनिके बहुत बाद ईसाकी पाँचवीं-छठीं शताब्दीमें पहुँचने पर ही हमें भामह, दण्डी आदिके नाम सुननेको मिलते हैं।

अलंकार मतः—दण्डी और भामह दोनों ही अलंकार मतके अनुयायी थे। रसके स्वरूप और उपयोगसे वे भली-भाँति परिचित थे, किन्तु सम्भवतः वे रसको काव्यकी आत्मा माननेको तैयार न थे। महाकाव्यके लक्षण निरूपित करते हुए भामहने यह अवश्य निर्देश किया है कि महाकाव्यमें विभिन्न रसोंका प्रयोग किया जाना चाहिए, परन्तु रसोंका इससे अधिक महत्त्व कदाचित् मान्य न था। काव्यकी आत्मा वे अलंकार या कल्पना सौन्दर्यको ही मानते थे। उन्होंने अलंकार शब्दका प्रयोग काव्य-सौन्दर्यके अर्थमें किया है।

स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति शब्दों द्वारा उन्होंने काव्यके स्वरूपको स्पष्ट करने की चेष्टाकी है। उनका मत था कि अलंकारके मूलमें वक्रोक्ति रहा करती है। वक्रोक्तिसे उनका तात्पर्य काव्यात्मक अभिव्यंजनासे था। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन आचार्योंने काव्यमें अभिव्यंजनाके सौन्दर्यको ही प्रमुखता दी थी। उनके मतानुसार काव्यका सौन्दर्य इतिवृत्ति या साधारण वस्तु कथनमें नहीं होता। दण्डीका मत है कि वक्रोक्ति ही किसी रचनाको काव्यके गुणोंसे अलंकृत करनेमें समर्थ है। केवल साधारण कथन (स्वभावोक्ति) तथा विवरण ही काव्य नहीं है। इन आचार्योंने अलंकारकी सीमाके अन्तर्गत रसोंको भी सन्निहित करनेका प्रयत्न किया है। दोनों आचार्योंने कुछ अलंकारों की उद्भावनाकी, जिनके अन्तर्गत रसकी सत्ता भी सन्निहित हो गई। रसवत एवं प्रेयस अलंकारोंकी उद्भावना रसको अलंकारके अन्तर्गत लानेके लिए ही की गई जान पड़ती है।

अलंकार शब्द का दूसरा अर्थ कल्पना द्वारा समाहित रूप या अर्थ-सम्बन्धी चमत्कार है। भामह के मतानुसार ऐसे अलंकारों की संख्या छियालीस थी। इन स्फुट अलंकारों का वर्गीकरण किसी स्पष्ट-प्रणाली से नहीं किया गया है। समयानुक्रम से इनकी संख्या किस प्रकार बढ़ती गयी, इसका कुछ आभास हमें भामह के विवरणों में प्राप्त होता है। परन्तु अलंकारों के विभाजन का कोई वैज्ञानिक प्रयास इन आचार्यों ने नहीं किया। इसका कारण कदाचित् यह था कि वे कल्पना-व्यापार से समुत्पन्न रूप-सृष्टि को ही अलंकार मानते थे।

काव्यालंकार नामक काव्यशास्त्रके प्रसिद्ध ग्रन्थमें भामहने अलंकारको काव्यकी आत्मा कहा है। उसके अनुसार अलंकार वह है, जिससे काव्यमें सौन्दर्य की सत्ता प्रतिष्ठित होती है। 'सौन्दर्यमलंकारः' द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि भामहने अलंकार शब्दका प्रयोग काव्य-सौन्दर्यके व्यापक अर्थमें किया है। उस समय तक गुण और अलंकारका भेद प्रस्फुटित नहीं हुआ था और भामहके अनुसार गुणोंका समावेश भी अलंकारोंके ही अन्तर्गत होता था। आगे आनेवाले आचार्योंने गुण और अलंकारका पृथक्-करण किया और उनकी विभाजक रेखा इस प्रकार प्रस्थापित की कि गुण

काव्यको काव्यत्व प्रदान करते हैं और अलंकार काव्यत्वकी शोभा-वृद्धिके साधन हैं। दूसरे शब्दोंमें गुणको उन्होंने काव्यका अन्तरंग उपादान एवं अलंकारको वहिरंग उपादान माना; परन्तु भामहने इस प्रकारका कोई भेद नहीं किया। उसकी अलंकार-व्याख्याके अन्तर्गत काव्यत्वके प्रतिष्ठापक तथा शोभा वर्द्धक दोनों ही उपकरण अलंकारके अन्तर्गत आ जाते हैं। 'सौन्दर्य-मलंकारः' की पूरी व्यापकता उनके निर्देशोंमें पाई जाती है।

भामहने काव्यको अभिव्यक्तिकी प्रणाली भी माना है। उसकी दृष्टिमें समस्त अलंकारोंके मूलमें वक्रोति या विलक्षणताका तत्व रहता है। काव्यमें अलंकारको सौन्दर्य स्थानिक मानना अलंकारोंका निर्माण करनेवाली कल्पना की सत्ताकी ही प्रतिष्ठा करना कहा जायगा। यह काव्यका अन्तरंग या निर्मा-णपक्ष है। उसका वहिरंग स्वरूप भामहके वक्रोक्ति-निरूपणमें दिखाई देता है। वक्रोक्तिमें ही काव्यत्व है और वक्रोक्ति ही अलंकारके मूलमें है, भामहका यह विचार था। वक्रोक्तिसे भिन्न काव्यशैलीको स्वभावोक्ति कहा गया है, किन्तु भामहने स्वभावोक्तिमें काव्यत्व नहीं माना। आगे चलकर समयानुसार वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति-सम्बन्धी विचारोंमें परिवर्तन हुए और वक्रोक्ति एक अलंकार मात्र रह गया। उसकी व्यापकता समाप्त हो गई। स्वभावोक्ति भी एक अलंकारके अतिरिक्त कुछ नहीं रहा। अलंकार सम्प्रदायके प्रवर्त्तक आचार्य भामहने कथनकी प्रणाली अथवा अभिव्यञ्जना प्रकारको वक्रोक्ति नामकरण कर एवं समस्त अलंकारोंके मूलमें वक्रोक्तिका निर्देशकर काव्यके वाह्यांगोंकी विशेषतापर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। आचार्यदण्डीने भी उसका कई रूपोंमें अनुमोदन किया है, भामहके विपरीत दण्डी अतिशयोक्ति-को समस्त अलंकारोंका मूल मानते थे; किन्तु इस सम्बन्धमें दोनों आचार्योंके सिद्धान्त अधिक भिन्न नहीं हैं। गुण सम्प्रदाय की पृथकता आगे चलकर आचार्य वामनने निरूपित की। इस दृष्टिसे गुणके आधारपर प्रतिष्ठित रीति-सम्प्रदाय भी अलंकार सम्प्रदायका ही एक अंग माना जा सकता है।

ऊपरके विवरणसे यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक आचार्योंने अलंकार की व्यापक व्याख्या की थी और उसके अन्तर्गत वक्रोक्ति रीति और गुण नामक तत्वोंको समाहित कर लिया था। यही नहीं आचार्य भामहने रसको भी पृथक-

तत्त्व न मानकर उसे अलंकारके अन्तर्गत ग्रहण किया था। रसवत प्रेयस एवं उर्जस्वित अलंकारोंके अन्तर्गत सभी प्रमुख रस सन्निविष्ट हो गए थे। आचार्य दण्डीने क्रांति नामक गुणको सभी रसोंकी समाहित सत्ताका स्वरूप दे दिया था और स्वयं गुण की सत्ता अलंकारोंसे अभिन्न होनेके कारण आचार्य दण्डीका यह उपक्रम अलंकार सम्प्रदायको विशद बनानेमें ही सहायक हुआ।

यदि अलंकार मतका विकास और परिपोषण भामह द्वारा स्थिर प्रणाली पर होता रहता, तो यह असम्भव न था कि अलंकार सिद्धान्त की गणना एक स्वतंत्र सिद्धान्तके रूपमें होती; किन्तु संस्कृत साहित्यके सैद्धान्तिक विकासका क्रम इसके विपरीत मार्गपर चला। समयके परिवर्तनके साथ गुणकी सत्ता अलंकारसे पृथक कर दी गई, एवं रीतिका भी एक स्वतंत्र सम्प्रदाय बना। वक्रोक्तिकी स्थित भी अपने मौलिक रूपमें स्थिर न बनी रह सकी। कहीं तो वह केवल मात्र अलंकार ही बना रहा और कहीं 'वक्रोक्तिः काव्यः जीवितम्' कहकर उसे काव्यकी आत्माके पदपर प्रस्थापित किया गया। रस भी बहुत समय तक अलङ्कारकी शाखा बनकर न रह सका। एक स्थिति ऐसी आई, जब उसे काव्यकी आत्माका गौरवशाली पद प्राप्त हुआ। ध्वनि सम्प्रदायके आविर्भावसे रसके प्रसारको पूरी सहायता मिली। अलङ्कार सम्प्रदायका उत्कर्ष स्थिर न रह सका और उसके समस्त उपकरण उसके अन्तर्गत बने न रह सके, जिसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि स्वतः अलङ्कार सम्प्रदाय अपनी स्वतंत्रता एवं आत्मनिर्भरताको छोड़कर कभी रीति, कभी रस और कभी वक्रोक्ति सम्प्रदायका अङ्गमात्र बन गया।

'रीति'मत—रीति-सम्प्रदायका सर्वप्रथम विज्ञापन करनेवाले वामन नामक आचार्य हुए, जिन्होंने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' की उद्घोषणा की। रीति-से वामनका अभिप्राय पद-रचनाकी विशेषतासे था। उन्होंने गौड़ी, पाञ्चाली और वैदर्भी—इन तीन रीतियोंको प्रतिष्ठित किया। इन नामोंके विशेष प्रान्त-सूचक होनेपर भी उनका स्वरूप स्वतन्त्र रूपसे निर्धारित किया गया है, जिनमें प्रान्तोंका कोई महत्व नहीं है। सम्भव है, उन प्रान्तोंकी सामान्य प्रकृति इन रीतियोंके अनुसार काव्य रचना करनेकी हो, परन्तु साहित्यिक मतके रूपमें ये रीतियाँ प्रान्तीय सीमामें बद्ध नहीं हैं।

गौड़ी रीतिसे वामनका प्रयोजन ऐसी समासबहुला पदावलीसे है, जिसमें ओजगुणकी व्यञ्जना स्वभावतः होती है। ऐसी पदावलीमें स्वभावतः कृत्रिमता रहेगी एवं उसमें शब्दालङ्कारोंका बाहुल्य होगा। फिर भी काव्यकी एक स्वतंत्र परिपाटीके रूपमें गौड़ी रीतिका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

वैदर्भी रीतिमें गौड़ी रीतिकी भाँति लम्बी-लम्बी सामासिक पदावली नहीं रहती, फिर भी समासोंका नितान्त अभाव नहीं होता है। प्रसाद गुण की इसमें प्रधानता रहती है। कालिदासकी रचना वैदर्भी रीतिका सुन्दर उदाहरण है।

क्रमशः रीतियोंकी संख्या बढ़ती गई और परवर्ती लेखकोंने दस रीतियों तकका नामोल्लेख किया है; किन्तु आचार्य मम्मटके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' में जिसका निर्माण दसवीं शताब्दीके आसपास हुआ था, उपर्युक्त तीन ही रीतियोंका उल्लेख है। ऐसा ज्ञात होता है कि रीतिको काव्यकी आत्मा माननेवाले आचार्य वामनने संस्कृत-काव्य-साहित्यकी शैलियोंको नए-नए नामोंसे अभिहित करना चाहा होगा। यही कारण है कि रीतियों की संख्या बढ़ने लगी; पर पीछे के आचार्यों ने रीतिकी संख्या कम करनेका उद्योग किया और रीति तथा गुणोंको संयुक्तकर दिया।

रीतिका प्रारम्भिक अर्थ था पद रचना—इसी पद-रचनाके गुणों पर रीति-सम्प्रदायका विवेचन अवलम्बित है। आगे चलकर काव्य-गुणों का पर्यवसान रीति-सम्प्रदायके अन्तर्गत किया जाने लगा और काव्य-दोष-सम्बन्धी सम्प्रदायका भी रीति-सम्प्रदायमें ही पर्यवसान हो गया। आरम्भमें दोषके अभावको ही गुण माननेकी प्रवृत्ति थी, परन्तु क्रमशः गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता स्थिर हो गयी। केवल दोषोंका अभाव ही गुण नहीं है, वरन् गुण काव्य-रचनाका आधारभूत तत्त्व है। यह नवीन प्रतिष्ठा रीति-सम्प्रदायके अन्तर्गत हुई। इस सम्प्रदायके आचार्योंने गुण और दोषके तत्त्वोंका विशद विवेचन किया। गुणोंकी संख्या प्रारम्भमें दस थी, [illegible] वह बीस हो गयी; किन्तु आगे चलकर यह संख्या स्थिर [illegible] ने माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ही तीन [illegible] संख्या भी भिन्न- [illegible] समय तक रस-सम्प्र-

दायका भी पर्याप्त प्रचलन हो चुका था, अतएव रीति-सिद्धांतके संस्थापकोंने इसको भी गुणोंके अन्तर्गत स्थान दे दिया।

ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकार और रीति-सम्प्रदायके बीच किसी समय बड़ी स्पर्द्धा रही होगी। यही कारण है कि कुछ आचार्योंने अलंकारोंके अन्तर्गत गुणोंको सन्निविष्ट करनेका प्रयत्न किया। गुण और अलंकारके पारस्परिक महत्वपर उस समय काफी विवाद हो रहे थे। यह कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् ६०० से ७०० तक १०० वर्षोंके अन्तर्गत रीति-सम्प्रदाय भारतीय साहित्य-समीक्षाका प्रमुख आधार बना हुआ था। गुण और दोषकी व्यापक प्रतिष्ठा हो जानेसे रीति-सम्प्रदायको बड़ा बल मिला और गुण सहित तथा दोषरहित रचनाकी आदर्श पदावली ही रीति मतके अनुसार काव्यकी आत्मा बन गई; किन्तु रीतिकी यह सत्ता अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। कालान्तरमें काव्यसमीक्षकोंको यह अनुभव होने लगा कि रीति या पद-रचना अन्ततः काव्यका बहिरंग ही है और केवल इसे ही कसौटी बना लेनेसे काव्यात्माकी पूरी परख नहीं हो सकेगी। क्रमशः गुण-दोष और अलंकारोंकी विवेचना रीतिसे स्वतन्त्र आधारपर होने लगी, जिसका परिणाम यह हुआ कि रीति सम्प्रदायकी व्यापकता घट चली और अन्तमें उसे रस-सिद्धांतकी एक शाखाके रूपमें परिणित होना पड़ा। केवल रीति मतकी यह अन्तिम परिणति नहीं हुई, वरन् अन्य साहित्यिक मत भी रस-सिद्धांतके अन्तर्गत विसर्जन होने लगे। आचार्य मम्मटके समयमें रस-सिद्धांतकी मान्यता सर्वव्याप्त हो गई। आचार्य मम्मटने रस और ध्वनिका ऐसा सुन्दर गुट-पाक तैयार किया कि बादके समस्त काव्य-समीक्षकोंको मान्य सिद्ध हुआ; ध्वनि और रस-सम्प्रदायके सम्बन्ध विकासको समझनेके लिये हमें आनन्दवर्द्धन से लेकर अभिनवगुप्त और मम्मट तकके काव्य-चिन्तनका अनुशीलन करना होगा।

'गुण'मत—रीति-सम्प्रदायसे ही सम्बद्ध गुण सम्प्रदायका आविर्भाव भी संस्कृत साहित्य समीक्षामें हुआ था। प्रत्येक रीति कुछ गुणोंसे संयुक्त हुआ करती है। जिन आचार्योंने रीति तथा गुणका पृथक्-पृथक् रूपसे उल्लेख किया है, किन्तु गुणका काव्य रीतिसे सम्बन्ध सभी ने स्वीकार किया है।

आगे चलकर इस धारणामें भी परिवर्तन हुआ और गुणका सम्बन्ध रीतिसे न रहकर काव्यकी आत्मा रससे जोड़ा गया। मम्मटने इस बातका उल्लेख किया है कि गुण काव्यकी आत्मा रससे सम्बन्ध रखते हैं और उसीके सहायक और परिपोषक होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भमें गुण-सम्प्रदाय रीति सम्प्रदायसे आविर्भूत हुआ था। रीतिको काव्यकी आत्मा माननेवाले आचार्योंने ही रीति और गुणोंका सम्बन्ध निर्धारित किया था; परन्तु क्रमशः रीतिकी प्रमुखता कम होनेसे गुणोंका सम्बन्ध रीतिसे छूटकर रसोंसे जुड़ गया, और इस अवस्थामें गुणोंके साथ ही काव्य दोषोंका भी निरूपण किया गया। इस प्रकार गुण व दोष एक पृथक सम्प्रदाय बनकर रस-सम्प्रदायके अंग रूपमें प्रतिष्ठित हुआ। गुणों तथा दोषोंके पारस्परिक सम्बन्धमें भी क्रमशः परिवर्तन होते गये। दोषोंका क्षेत्र पद, वाक्य, अर्थ, अलङ्कार और रस तक व्यापक हो गया। पद-दोष, अर्थ-दोष, रस-दोष आदि की चर्चा साहित्यिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ की जाने लगी।

गुणों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मानी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीन मुख्य गुण हैं। ओज गुण गौड़ीके साथ, माधुर्य पाञ्चालीके साथ और प्रसाद वैदर्भी रीतिके साथ संयुक्त किया गया। कतिपय आचार्योंने गुणोंकी संख्या दस मानी है।

गुण सम्प्रदायकी आरंभिक अवस्थामें गुण और अलङ्कारका अन्तर भी स्पष्ट नहीं हो पाता था और इन दोनोंकी सत्ता एक दूसरेसे मिली हुई थी। आचार्य वामनने सर्वप्रथम गुण और अलङ्कारोंका पृथक्करण किया और उन दोनोंका स्वरूप निर्धारित किया। जिस प्रकार आरम्भमें गुणोंके अभाव-को ही दोष माननेकी प्रवृत्ति थी, उसी प्रकार दोषके अभावमें गुण माननेकी प्रवृत्ति भी पाई जाती है। समय व्यतीत होनेपर गुण व दोष स्वतन्त्र रूपमें प्रतिष्ठित हुआ।

काव्य-साहित्यका अध्ययन करनेवाले आचार्योंकी एक श्रेणी काव्यगुण व काव्यदोषोंको लेकर प्रतिष्ठित हुई। सम्भवतः इस सम्प्रदायके मूलमें कोई सैद्धान्तिक प्रक्रिया उतनी नहीं थी, जितनी वास्तविक काव्यके अनुशीलनकी प्रक्रिया थी। भिन्न रचनाकारोंके ग्रन्थोंको लक्ष्य बनाकर गुण व दोषोंका

निरूपण किया जाता था। जैसा कहा जा चुका है, आरंभमें ओज, प्रसाद, माधुर्य केवल तीन ही गुण थे; किन्तु क्रमशः उनकी संख्या दस हो गई। आरंभमें गुणोंके अभावको ही दोष माननेकी प्रवृत्ति थी; परन्तु क्रमशः दोष-दर्शन एक स्वतन्त्र साहित्यिक मत बन गया। दोषोंकी संख्या बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों तक पहुँच गई। कतिपय आचार्योंने गुण व दोषको ही काव्यका मूल तत्त्व मान लिया। इन आचार्योंकी यह मान्यता एकदम निर्मूल नहीं है, क्योंकि वास्तविक रचनाका अनुशीलन करते हुए जिन गुणों व दोषोंका अनुभव पण्डितोंने किया और उस अनुभवके आधारपर ही जिन गुणों और दोषोंका निरूपण किया गया, उन्हें आधार रहित कैसे कहा जा सकता है। गुण व दोष मतका रीति तथा अलङ्कार सम्प्रदायोंसे कब कैसा सम्पर्क हुआ और पारस्परिक, आदान-प्रदानके सिद्धान्तके अनुसार ये विभिन्न सम्प्रदाय किस क्रमसे समन्वित होते गए, यह भारतीय साहित्य-शास्त्रके इतिहासका एक शोधनीय विषय है।

वक्रोक्ति मत—वक्रोक्तिको काव्यकी आत्मा या मुख्य स्वरूप माननेका उपक्रम कई पूर्ववर्ती आचार्योंने किया था; किन्तु पृथक् सम्प्रदायके रूपमें उसका उदय दसवीं शताब्दीके पश्चात् हुआ। इसके उद्भावक कुन्तक नामक आचार्य थे, जिनका ग्रंथ 'वक्रोक्ति-जीवित' है। प्रत्येक अलङ्कारके मूलमें वक्रोक्ति रहा करती है। यह वक्रोक्तिकी व्यापक व्याख्या थी; परन्तु आचार्य कुन्तकने इससे भी आगे बढ़कर निर्देश किया कि वक्रोक्ति ही काव्यकी आत्मा है—वक्रोक्तिकी परिभाषा उन्होंने 'वैदग्ध्यभंगी भणिति' अर्थात् चतुर अथवा चमत्कारपूर्ण रचना कहकर की है। विदग्धतामें रमणीयताका भाव निहित रहता है। इस प्रकार रमणीय उक्ति अथवा वक्रोक्तिको काव्यकी संज्ञा देनेके पश्चात् आचार्य कुन्तकने वक्रोक्तिका विस्तार काव्यके समस्त स्वरूपका स्पर्श करते हुए किया है। वर्ण-विन्यास वक्रतासे लेकर रस-वक्रता और महाकाव्य-वक्रता तक वक्रोक्तिकी सीमा उन्होंने निर्धारित की। ऐसा प्रतीत होता है कि अभिव्यञ्जना की रोचकताको ही कुन्तकने वक्रोक्तिकी संज्ञा दी है और रसको भी वक्रोक्तिका ही एक स्वरूप माना है। उन्होंने वक्रोक्तिके क्रमशः चार भेद किए—वर्ण-विन्यास, पद, वाक्य और प्रक-

रस अथवा प्रबन्ध वक्रता। इनके अन्तर्गत अलङ्कार तथा रस-वक्रता भी सम्मिलित हैं।

ध्वनि मत—भारतीय साहित्य-समीक्षामें ध्वनि सम्प्रदायका विशेष महत्व है। नाटकोंमें रसका तत्व तो स्वीकार कर लिया गया था, पर काव्यके अन्य अङ्गोंके लिए इसकी स्वीकृति नहीं हो पायी थी। यह कार्य व्यञ्जना अथवा ध्वनि-सम्प्रदाय द्वारा उत्पन्न हुआ। ध्वनिके सिद्धान्तानुसार काव्यमें जो कुछ शाब्दिक रूपसे उल्लेख किया जाता है, वही उसका अन्तिम प्रयोजन नहीं है, वरं काव्यका ध्वन्यार्थ अथवा व्यञ्जित अर्थ ही काव्यका मुख्य प्रयोजन होता है। केवल शब्दार्थ द्वारा विषयका ज्ञान कराना काव्यका इष्ट नहीं है। काव्य का लक्ष्य है—भावों और रसोंकी व्यञ्जना करना।

ध्वनिके अन्तर्गत वस्तु, अलङ्कार और रस तीन ध्वनियाँ होती हैं। इन रस-ध्वनि ही काव्यका जीवन है। इस प्रकार रस और ध्वनिका समन्व स्थापित करके ध्वनिवादियोंने अपने सिद्धान्तको परिपुष्ट किया। काव्य आत्मा रस ही स्वीकार किया गया, किन्तु रसको ध्वनि या व्यञ्जना द्वारा अनुभूतिका विषय बनानेकी बात कही गई। काव्यके शब्द प्रतीकों द्वारा ध्व के विशेष व्यापक तत्त्वका उद्भव होता है और तभी काव्यके पाठक रस अनुभूति कर सकते हैं।

ध्वनि-सम्प्रदायने रस-सिद्धान्तका आधार लेकर अपनी प्रतिष्ठा कर थी, तथापि ध्वनि और रसमें अन्तर स्थापित करनेवाले मतोंकी कमी नहीं। इनमें से अधिकांश समीक्षक रस-सिद्धान्तके विरोधी नहीं थे; किन्तु ध्वनि के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि काव्यके लिए ध्वनि नामके तत्त्व स्वीकार करना आवश्यक नहीं। काव्यकी आत्मा रस है, ध्वनि नहीं। समीक्षक न्याय अथवा तर्क-शास्त्रका आधार लेकर चले थे, इस कारण ये नै यिक सम्प्रदायके कहलाये। इनका मुख्य प्रयोजन ध्वनिवादका खण्डन क था। इनके सम्मुख कोई रचनात्मक कार्यक्रम न था, इस कारण इस म अनुयायी साहित्य-समीक्षामें विशेष महत्व प्राप्त न कर सके।

उपर्युक्त सिद्धान्तों और मतोंके अतिरिक्त कुछ फुटकल मत और सम्प्र भी भारतीय-साहित्य-मीमांसामें दिखाई देते हैं; किन्तु उनमें इतनी मौलि

लेकर आज तक नाट्य-चिन्तन अविच्छिन्न गतिसे प्रवहमाण रहा, जिसमेंसे होनेकाकी नाट्य कृतियाँ तथा सिसेरो, क्विनटिलियन, कास्टेलवेटरो, एवं ग्रूने-लरेके सिद्धान्त विशेषतया उल्लेखनीय हैं। शेक्सपियरके समयसे नाटकका नानामुखीन विकास हुआ और आर० फ्लेकनो (ए डिस्कोर्स आव द इंगलिश स्टेज) बेन जानसन (एव्री मैन आउट आव हिज़ ह्यूमर डिसकवरीज़), जान ड्राइडेन (प्रेफ़ेस टु एन ईवनिंग्स लव ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयज़ी तथा, प्रेफ़ेस टु ट्रायलस ऐण्ड क्रेसिडा) मिल्टन (प्रेफेस टु सैमसन ऐग निस्टीज़) डि क्विन्सी (मिल्टन वर्सस साउदे ऐण्ड लैण्डार थियरी आव लिटरेचर) जोज़फ एडिसन (स्पेक्टेटर) जानस रैम्बलर, कॉलरिज शोमरविल, स्टाल, हेगेल, शोपेनहाव्यर (द वर्ल्ड एज़ विल् ऐण्ड आइडिया) नीत्शे, मारिस मेटरलिङ्क, बर्गसाँ मेरेडिथ (थियरी आव् कामेडी), सर फिलिप सिड्नी ऐन अपालजी फ़ार पोयट्री) टामस हाब्स (लेवायथन), म्यूलियर (टार्टफ़), शैडवेल (प्रेफ़ेस टु ह्यूमरिस्ट्स्), फील्डिंग (टाम जोन्स) एकेन साइड (प्लेज़र्स आव् इमैजिनेशन), विलियम हैज़लिट् आन विट् ऐण्ड ह्यूमर) स्तौंदा (रेशीन एट शेक्सपीयर), टॉमस कार्लाइल (एसे आन रिक्टर), लै हण्ड विट् ऐण्ड ह्यूमर, इमरसन (लेटर्स ऐण्ड सोशल एम्स) थयाँडार लिप्स (कामिक ऐण्ड ह्यूमर) सर आर० हावर्ड (प्रेफेस टु फ़ोर न्यूप्लेज़) आदि चिन्तकोंने अपनी मीमांसाके बलसे योरपके नाटकका दिग्दर्शन किया। भारतीय साहित्योत्कर्षके विषयमें प्रचारवृत्तिको दबाकर यदि देखा जाय, तो अश्वघोष, कालिदास, हर्ष, भवभूति, माघ, शूद्रक और विशाखदत्तको छोड़ अन्य लेखक इस दिशामें अधिक सफलता पा सके हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता, और इन लेखकोंका मूल्याङ्कन करते समय भी कालिदासको छोड़ अन्योंके विषयमें जो प्रशस्तिगान किया जाता है, उसमें मुग्ध दृष्टिसे अधिक काम लिया जाता है, विवेकसे कम। नाटकके शास्त्र पक्षमें भी भरत, अभिनव गुप्त, धनञ्जय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ आदि न्यूनसंख्यक विचारकोंने ही योगदान किया है, और उन्होंने भी नाटकके रूप पक्ष पर ही अधिक कहा है, तत्वपक्ष पर बहुत कम। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्रतिभाने दर्शन-साहित्यकी रचनामें जितनी सफलता प्राप्तकी

है, काव्य-साहित्यकी रचनामें उतनी नहीं, और उसमें भी कवितापक्षमें जितना उत्कर्ष दिखाया है, नाटकपक्षमें उससे भी कम। ऐसा क्यों?

इसके लिए दो बातोंकी जानकारी आवश्यक है—तत्कालीन समाजका सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि नानापक्षीय इतिहास और नाटकका अपना निजी इतिहास। पर दोनों इतिहासोंका सर्वथा अभाव भारतीय नाटकके विद्यार्थीके मार्गका सबसे अधिक दुरतिक्रम प्रत्यूह है। भगवान् बुद्धके पहलेका वृत्त अविश्वसनीय अनुमानोंका इन्द्रजाल मात्र है, और उनके समयसे लेकर मौर्य्यकाल तकका राजनीतिक घटनाक्रम तो किसी प्रकार मिल जाता है, पर नानापक्षीय इतिहास अपनी पूर्णतामें अद्यावधि अनुपलब्ध ही है। जो थोड़ेसे प्रयास इस दिशामें हुए भी हैं, उनमें गवेषकोंकी दृष्टि अनाविष्ट नहीं रह सकी है, उदाहरणतः श्रीसत्यकेतु विद्यालंकारने मौर्य्य-साम्राज्यमें ब्रिटिश पार्लियामेण्ट और कैबिनेट जैसी आधुनिक प्रणालियोंकी सत्ता दिखाई है; स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवालके प्रयासोंमें बैरिस्टरी अधिक है, निष्पक्ष विद्वान्‌की शोधदृष्टि कम, यही कारण है कि उन्होंने हिन्दू पॉलिटीमें 'सभा' और 'समिति' शब्दोंके साथ अन्याय तो किया ही है, प्राचीन गणतन्त्रोंमें उन्होंने बालकोंकी सौन्दर्योपासनाकी वैसी ही कुत्सित प्रवृत्ति देखी है, जैसी प्राचीन यूनानके गर्हित यौन-जीवनमें प्रचलित थी, अन्धकारयुगों पर भी उनकी स्थापनाएँ विवादास्पद हैं, जिनकी पूर्वग्रहमयी दुराग्रही विद्रूपता से सभी विद्वान् परिचित हैं। किंबहुना, एतद्देशीय अभाव इतिहासके विद्यार्थियोंसे छिपा नहीं है।

पर सबसे अधिक अभाव है, भारतीय नाटकके अपने निजी इतिहास का। यह असम्भव है कि अश्वघोष और भासके नाटक भारतीय नाट्य-सर्जनाकी पहली देन हों। अभी यही सिद्ध होना शेष है कि भारतीय नाटकका जन्म और विकास किन परिस्थितियोंमें और किन उद्देश्योंको सामने रखकर हुआ। पाश्चात्य नाटककी निर्माणी भावधाराओंका प्रत्येक स्तर स्पष्ट है। परन्तु भारतीय नाटकके विषयमें ऐसी कोई बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती।

भारतीय नाटकका उद्गम और विकास एक लम्बे चौड़े विवादका

कलके समान पितरोंके प्रति

प्रक [illegible] प्रतिक्रमणको अनुहगत रूप मानते हैं, स्टेनकोनो[२] का विश्वास है [illegible] कृत रूप ही भारतीय नाटक है, लेवी[३] संवाद सूक्तों को भारतीय नाटकका जनक समझते हैं, श्रोडर[४] हिलेब्रेन्ड[५] तथा हर्टेल[६] को देवतत्वप्रधान रहस्यभावनामें नाटकके बीज मिलते हैं, पिशेल[७] को कठपुतलियोंके नाचमें भारतीय नाटकका आदिरूप मिला, ल्यूडर्स[८] ने छाया नाटकोंके मूलसे भारतीय नाटकको निकाला है, कीथ[९] को श्रृनृत्यवके उपलक्ष्यमें नाट्य-प्रदर्शनकी प्रथाको सम्भावना मिली, शौरसेनी प्राकृतिका अधिक प्रयोग होनेके कारण विण्टरनित्स[१०] को कृष्ण पूजा ही नाटककी प्रेरक शक्तिके रूपमें स्वीकृत हुई, और हरप्रसादशास्त्रीने[११] इन्द्रध्वजमहोत्सवको नाटकका आदिरूप माना। इन तर्क-वितर्कोंसे सम्बन्धित साहित्य और भी अधिक है, और भारतीय नाटकके स्वभाव-निर्णयके लिए उस सबका प्रचुर महत्त्व है। तथापि नाटकके उदयकालके पीछे कौन-सी सांस्कृतिक,

१. Ridgeway—Dramas and Dramatic Dances of Non-European Races [cambridge, 1918] २. Sten konow:—Das Ind. Drama [Berlin 1920]. ३. S. levi-Theatre indien [paris. 1890] ४. L-von schroeder:—Mysteriumund mimusim Rgveda, [Leipeig 108]. ५. A-Hillebrandt:—über die Anfange das indischen Dramas [Munich 1914]. ६. G. Hertel:—W. Z. K. M. XVIII 1904. p. 59 f; 137f; XXIII p. 273f; and XXIV, p. 117 f. ७—R. Pis- chel:—Die Heimat. des Puppens piels Halle. 1900]. ८. H. Lüders:—Die Saubhikas : ein Beitrag zur Geschichte d. indischen Dramas—S. B. A. W. 1916. p. 698 f. ९. A. B. keith-Sanskrit Drama. १०. M. winter nite:—Z. D. M. G. LXXIV 1920, p. 118 f. ११. Harprasad Shastri:—G. P. A. S. B. V p. 351 f.

जातीय तथा सामाजिक प्रवृत्तियाँ क्रियमाण थीं, इसका निश्चय करनेके लिए प्राचीनकालके जितने विवरण सापेक्ष्य इतिहासकी आवश्यकता है, उसका अभाव है। स्वयं भारतके नाट्यशास्त्रमें ब्रह्मा द्वारा नाट्यवेदकी रचनाकी जो कथा दी गयी है, उससे नाटकके प्रारम्भिक रूपके सम्बन्धमें खींचतान ही की जा सकती है, कोई विश्वसनीय अर्थ नहीं निकाला जा सकता। भास और अश्वघोषके नाटकोंके पूर्व कुछ नाट्य-साहित्यका उल्लेख अवश्य मिलता है[1], पर यह आज अप्राप्य है।

जितने नाटक प्राप्य हैं, उनमें कुछ प्रवृत्तियाँ आदिकालसे लेकर अन्तिम-काल (१८ वीं शताब्दी) तक न्यूनाधिक रूपमें मिलती हैं, और वे यह हैं (१) गतिका अभाव (२) कथनोपकथनकी चरित्र-रञ्जिनी सामर्थ्यकी न्यूनता (३) कथा भागका दुर्बल वेग (४) गद्यभागकी आपेक्षिक न्यूनता और कथा-श्रयी कविता तथा प्रसंगबाह्य कविताकी प्रचुरता (५) हास्य और व्यङ्ग्यके अनुकृत्य रूप (६) बने बनाये ढर्रोंमें ढले नायक-नायिकाएँ तथा संघर्ष एवं चरित्र-चित्रणका अत्यधिक अभाव (७) मञ्चगत प्रकृतिसज्जाकी कमी की संवादगत कविताओं द्वारा पूरी करनेकी प्रवृत्ति (८) नाट्यतत्त्वकी उपेक्षा और कवितातत्त्वका असङ्गत और उद्देश्यहीन बोझ (९) जीवनको स्पर्श करनेकी चेष्टाका सर्वथा अभाव (१०) सामन्ती आदर्शोंकी उच्छ्वासहीन दासता।

---

१. पाणिनि ने कृशाश्व और शिलालिनके नट सूत्रोंका उल्लेख किया है [अष्टा–IV–3-110-111] परन्तु यह नटसूत्र नाट्यशास्त्र विषयक ही रहे होंगे, इस पर विद्वानोंको सन्देह है। इसी प्रकार नट, नाटक आदि शब्दों का रामायण महाभारत (हरिवंश-सहित) में जो उल्लेख हुआ है, उसे विद्वान वास्तविक नाटक या अभिनेता अर्थ देनेवाला नहीं मानते; परन्तु अवदान शतक [II-24] दिव्यावदान (पृ० ३५७, ३६०, ३६१) एवं ललित-विस्तार (XII-p. 178) में एतद्विषयक जो उल्लेख हैं, उन्हें अधिक विश्वसनीय माना जाता है। कंसवध और बलिबंध इन दो नाटकोंका उल्लेख पातञ्जल महाभाष्यमें मिलता है, जिनके सम्बन्धमें यह निश्चय करना कठिन है कि यह दोनों शब्द जातिवाचक हैं या व्यक्तिवाचक।

सके अनन्तर भारतेन्दुकालके नाटकोंमें भी संस्कृतकी नाट्यपरम्पराका एक दुर्बल रूप मिलता है; वैसे हिन्दी-जगत्‌के वे आदिकालीन प्रयास स नाते अभिनन्दनीय हैं कि वे हिन्दी-भाषाकी सम्भावनाओंको एक नयी दशा दे रहे हैं। प्रसादजीके द्वारा प्रथम-प्रथम नाट्यसर्जनाके नवीन प्रयोग ए, जिनमें नाट्यतत्त्वोंका अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखा गया, पर प्रसादजीकी तियों पर भी एक ओर तो प्राचीन नाट्य प्रवृत्तियोंका पूरा-पूरा प्रभाव है और दूसरी ओर (चरित्र-सर्जनामें) छायावादी व्यक्तिवाद[1] का, जिससे उनके नाटकोंमें कर्तुरता अधिक स्पष्ट हुई है, पूर्व और पश्चिमका सांस्कृतिक समन्वय कम। उनके बादके नाटक अभी प्रयोगके गर्भमें हैं, उनमें कोई स्पष्ट प्रवृत्तियाँ परिलक्षित नहीं होतीं। इस दो हजार वर्षकी नाट्यसर्जनाके पीछे कौनसी सामाजिक प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं, यही इस लेखका विवेच्य विषय है।

पात्रोंके चयन अब तकके प्रायः सभी महान् नाटकोंमें समाजके उच्चतम वर्गसे होते आये हैं, यद्यपि सुखपर्य्यवसायी नाटकोंमें इस नियमके अपवाद भी मिलते हैं। आलोचकोंके मतसे राजाओं और राजकुमारोंके चरित्रही हमपर गहरा प्रभाव डाल सकते हैं। दुःखपर्य्यवसायी नाटक तो गुणराशिके विशाल आटोपके मध्यवर्ती किसी प्रबल दौर्बल्यके नैसर्गिक और स्वतःसम्भूत प्रतिफलन हुआ करते हैं। और जब तक चरित्र महान् न होगा, पात्रमें गुण-राशिका अस्तित्व दिखाना तो कठिन होगा ही, दौर्बल्यकी महानाशवाहिनी प्रबलताका अधिष्ठान भी सफलतापूर्वक नहीं प्रदर्शित किया जा सकता। परन्तु बेलजियम आलोचक मारिस मेटरलिंकका मत इस दिशामें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उनके विचारसे उच्च वर्गके जीवनके साथ हमारी सहानुभूतिका आधार एक अस्थायिनी कल्पनामात्र है, जो हमारे अन्तरतमको सदा गूँजते रहनेवाले एक प्रबल झंकारसे झंकृत नहीं कर सकती। परिवोंसी

[1]—जिसके हृदयका काव्य रूसोका दर्शन है, ऐसा दिनकरजीका कथन है—द्रष्टव्य—'मिट्टीकी ओर'। यद्यपि श्रीइलाचन्द्र जोशी इसे आधुनिक कवियोंकी सीमाओंके प्रतिपद् ताइनकी प्रतिक्रियासे उत्पन्न मानते हैं—द्रष्टव्य—'विवेचना'।

लगनेवाली राजकुमारियाँ अपने रूप सम्मोहनसे नमस्कृत करती हैं अवश्य, पर वे परियोंसे भी अधिक निराधार होनेके कारण स्थायी कल्पनाको कब तक अपने साथ बाँधे रह सकती हैं। सामन्तीय आदर्शोंमें पोषण पानेवाले महाकवि कालिदास तक यक्षलोकका वर्णन करनेके व्यपदेशसे इस वर्ग की गतसार भावनाओं पर *एक गहरा व्यङ्ग्य किये बिना नहीं रह सके—वित्तेशानां न खलु वयो यौवनादन्यदस्ति*[1]। धनिक वर्ग तो सदाबहार है, उसमें बचपन की उत्सुक भागदौड़, झुर्रियोंसे भरी और चिन्तासे जर्जर अवश्यम्भावी बुढ़ापे की आननश्रीका वैविध्य कहाँ? वह तो सदा एकही वय रहता है, अर्थात् यौवन; यौवन, जो टानिकोंसे विवर्धमान होता हुआ बचपनके निर्दोष सारल्य को धरदस्त कर बैठता है, और *नाना रसायन संकुल* अपनी भुजाओंको बढ़ाकर बुढ़ापेको बहुत दूर रोक देता है। कालिदास आदि आचार्य्य होते तो आलोचनाके क्षेत्रमें मेटरलिङ्कसे बढ़कर क्रान्तिके अग्रदूत होते, इसमें सन्देह नहीं।

परन्तु स्वयं कालिदासके दुष्यन्त, पुरूरवा या अग्निमित्र भी तो उसी उच्चवर्गके प्रतिनिधि हैं। यह ठीक है कि भारतीय नाटकका साध्य चरित्र नहीं रहा है, *जिसकी उद्भावना किसी महान् सत्यके प्रतिपादनसे* पुरस्सर होती है, और रवीन्द्रनाथ ठाकुरने कालिदास पर अपना मत देते हुए यही बात कही है, तथापि महान् सत्यका अधिष्ठान असामान्य भाव-भूमिपर ही हो, यह कहना कुछ वैसाही है, जैसा यह कहना कि रत्नजटित सुराचषकके बाहर आनन्द कहाँ? रवीन्द्रनाथके मतसे जिसका प्रकारान्तरसे प्रतिपादन श्रीइलाचन्द्र जोशीने भी किया है।[2] *अन्य विचारक भी सहमत नहीं है।*[3] कालि-

---

१—आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः। नान्यस्तापः कुसुमशरजा *दिष्टसंयोग साध्यात्॥ नाप्यन्यस्मात् प्रणयक कलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः। वित्तेशानां* न खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥

२—साहित्य सर्जना पृ० ८०-९३; ५३-६२। ३—S. n. Das Gupta and S. k. De A History of Sanskirit Literature Vol.I' Introduction p. XXXVII

दासके पात्रोंके सम्बन्धमें द्विजेन्द्रलाल रायने भी प्राचीन आलोचक वर्गकी सम्मतिका पिष्टपेषण-मात्र किया है।[1] यदि कालिदास की रचनाओं पर सामन्तीय युगका बोझ न होता, तो भी उन्हें ऐसेही पात्रोंका चयन करना पड़ता, और कालिदास क्या, भिन्न-भिन्न युगोंके सभी भारतीय नाटककारोंको ऐसा करनेके लिए विवश होना पड़ता। रामायण और महाभारत की रचनाके अनन्तर यवनों, शकों आभीरों तथा अन्य कितनीही जातियोंके आगमन और विस्तारने आर्य्य मस्तिष्कके समक्ष ऐसी विभीषिका खड़ी कर दी कि उसने धर्मशास्त्रोंके तांते लगा दिये और विशुद्ध भारतीय संस्कृतिके रक्षणार्थ ऐसी सुदृढ़ प्राचीरें खड़ी कर दीं कि यही प्राचीरें अन्ततोगत्वा भारतीय जीवनके विकासका अवरोध कर बैठीं और मानसिक दासताके ऐसे उत्कट निगड़जाल प्रस्तुत होते गये, जिनसे भारतीय जीवन अद्यावधि बँधा पड़ा है। धर्मसूत्रोंसे ही सन्तोष नहीं हुआ, उनके बाद रचा गया विशाल स्मृति साहित्य, जिसने जीवनके स्वतन्त्र विकासके लिये, जो थोड़ा सा क्षेत्र बच रहा था, उस पर विशाल शिला समूहके समान बैठकर साहित्यके वैविध्यके दो-चार अंकुरोंको भी पल्लवित-पुष्पित न होने दिया। इसका एक भयङ्कर दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है। एक बार स्वतन्त्र विकासके युगमें, उपनिषदोंका रहस्य, गीताका ज्ञान, रामायण-महाभारतका प्राणोन्मेषमय काव्य और इतिहास देकर इस जगद्गुरु देशकी वाणी सदाके लिए ऐंठ गयी और इस ऐंठी हुई वाणी एवं भयजर्जर मस्तिष्क से सिवाय टीका-साहित्यके और कुछ न प्रसूत हो सका तो इसमें आश्चर्यही क्या है।

ऐसी परिस्थितिमें जब वर्णाश्रम धर्मकी शृंखलाएँ इतनी कठोर हो चली थीं कि ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रमके बीच एक दिनका भी व्यवधान वर्जित माना जाता था, प्रणयकी और तज्जन्य प्राणोत्सर्जनमयी वीरता चारित्रिक उदात्तता या करुणाके लिए कोई स्थान भारतीय समाजमें न तो पौराणिक कालमें था और न अब है। जहाँ-जहाँ यह आर्य-परम्पराएँ कुछ ढीली पड़ीं, जैसे आधुनिक बंग समाजमें, वहाँके साहित्यमें जीवन-रागकी अरुणिमा अब भी अधिक है। हिन्दी और बँगलाके तुलनात्मक अध्ययनसे यह बात अधिक

१—कालिदास और भवभूति, पृ० १८ (हिन्दी रूपान्तर, बम्बई १९२१)

स्पष्ट हो जाती है। हम हिन्दी-भाषा-भाषी हैं, अतः हम हिन्दीका पक्षपात न करें, तो हिन्दीके विद्वान् रुष्ट हुए बिना न रहेंगे। परन्तु एक निष्पक्ष विद्यार्थी-के सम्मुख यह बात स्पष्ट हुए बिना न रहेगी कि रवीन्द्रनाथकी कविताके समक्ष समूचा आधुनिक हिन्दी-काव्य, शरत्, बङ्किम, रमेशचन्द्रदत्त और राखाल बन्द्योपाध्यायकी उपन्यासकलाकी तुलना में हिन्दीका उच्चतम उपन्यास-साहित्य, द्विजेन्द्रलाल राय, गिरीशचन्द्र घोष तथा क्षीरोदचन्द्र मुखोपाध्यायकी नाट्यसर्जनाके सामने भारतेन्दु, प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्द-दास, रामकुमार वर्मा, गोविंदवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट आदि किसीकी नाट्यसाधना बहुत कम अर्थ रखती है। यह बात नहीं है कि हिन्दीके लेखकों-में साधनाका अभाव है। साधना तो उनमें बँगलाके लेखकोंसे अधिक है, पर जिस समाजमें वे बने हैं, उनसे उन्हें प्राणोंका महान् स्पन्दन नहीं मिला, जैसा बँगलाके लेखकोंको पिछली एक शताब्दीसे मिलता रहा है। वैसा समाज यहाँ निकट भविष्यमें बन सकेगा, इसकी कोई आशा नहीं है। यहाँ स्मृतियोंकी परम्पराएँ अब भी उतनी ही दृढ़ हैं, जितनी पहले थीं। सन्तोंने बहुत अधिक और भक्तोंने कुछ कम इन परम्पराओं पर ठोकर लगाई अवश्य, पर उस ठोकरका कोई स्थायी प्रभाव हुआ नहीं, लाठीसे पिटे जलमें एक क्षणिक विभाजन होनेके अनन्तर जैसे फिर जल अपनी समता पर आ जाता है, वैसे ही यहाँका समाज पुनः अपनी परम्परायुक्त जड़िमा पर आ गया। छायावादी कविताने हिन्दी-भारतीके विग्रहसे छींटकी चोली उतार फेंकी, परन्तु समाजमें वह भी कोई परिवर्तन न कर सकी। आज पन्द्रह वर्षोंसे प्रगति-वाद अपना प्रयास कर रहा है, परन्तु उसे भी साहित्य की भूमिका पर हल-चल करनेमें थोड़ी-बहुत सफलता भलेही मिल जाय, समाजमें कोई परिवर्त्तन होगा, इसकी आशा कम है। आपेक्षिक मूल्याङ्कन किया जाय तो हम कहेंगे कि दयानन्द, राममोहन राय और गांधीजीने जो कुछ कर पाया, समाज और परिणामतः साहित्यके लिए वह अधिक बड़ी देन है।

यही कारण है कि मृच्छकटिकको छोड़ समूचे संस्कृत नाट्यसाहित्यमें कोई भी चरित्र तत्कालीन समाजका नहीं है। उस परम्परा-विजड़ित् समाजमें ... योग्य कोई चरित्र था ही नहीं। यही कारण है कि अधिकांश

लेखकोंने अपने पात्रोंको खोजनेके लिए उस समाजकी शरण ली, जब भारतवर्ष जीवित था—अर्थात् वैदिककाल, उपनिषद्काल, बौद्धकाल या रामायण-महाभारत-कालका समाज। यही कारण था कि नाट्य-सिद्धान्तमें यह नियम चल निकला कि वस्तु प्रख्यात[1] हो। एक उज्ज्वल दिशा फिर भी बची थी कि पात्र जहाँसे भी चुने जायँ, नाटकोंको 'ऐतिहासिक नाटक' का रूप दिया जा सकता था, जिसमें काल-विशेषकी मर्यादाओंको लेकर चरित्र-चित्रण किया जा सकता था; परन्तु ऐसा हुआ नहीं। कालिदास के दुष्यन्त वैदिककालके दुष्यन्त बिलकुल नहीं हैं और न रत्नावलीके उदयन बौद्धकालके उदयन। नाटकान्तर्गत कण्वाश्रमकी तापसतरुणियोंमें जो दरबारीपन दीखता है, [2] वह निश्चय ही वैदिककालमें नहीं था। नाटकके दुष्यन्त भी महफिलबाज मालूम होते हैं और लम्पट भी, यद्यपि कालिदास ने जहाँ तक बन पड़ा, उन्हें उदात्त ही बनाए रखा। वैदिककालकी स्वच्छन्दता-भरी संस्कृतिमें जहाँ नैसर्गिक प्रणयके आवेगोंके प्रवाहके लिए सभी मार्ग उन्मुक्त थे, लम्पटता सम्भाव्य ही न थी। दुष्यन्त और शकुन्तला का गान्धर्व विवाह दिखाया अवश्य गया, पर साथही उसका दुष्परिणाम भी दिखा दिया गया, अन्यथा स्मृतिकारोंके उपदेशोंके विशाल बोझसे दबे तत्कालीन समाज को जिसमें आर्ष, ब्राह्म, गान्धर्व, राजसूय, दैवप्राजापत्य आदि नाना सामान्य विवाह-पद्धतियाँ [3] टूँकपिटकर एकमात्र रूपमें शेष रह गयी थीं; यह सहन कैसे होता कि स्मृतिकी लीकसे हटने पर दैव प्रेरित वज्राघात न दिखाया

जाय। उन्मुक्त प्रणय भी स्त्री पुरुषमें वर्जित था, उसकी कोई गुञ्जाइश ही न थी, अतः यह भी बेचारे कालिदास द्वारा विभिन्न रूपमें चित्रित किया गया, अर्थात् मनुष्य और प्रकृतिके प्रणयके रूपमें। यही कारण था कि कवि-कल्पना पर तत्कालीन समाजकृत बन्धन जितने ही कठोर हुए, उतने ही प्रबल वेग से उस कल्पना ने कुत्सित निम्न अन्य क्षेत्रोंमें उच्छृंखलकर समाजसे प्रतिशोध लिया। यह कहना असंगत न होगा कि पार्वती और शङ्करका विलास जो इतने कुत्सित रूपमें चित्रित हुआ, पयोधरोंका जो इतना पीनीकरण हुआ कि वह घड़ेके आकारके हो गये, और नितम्बोंकी इतनी स्फीति कि वह दो हाथों के फैलानेपर उससे भी अधिक आयत, अर्थात् चौड़ाईमें कोई छः फीटसे भी अधिक निकले, इस सबका कारण उसी कल्पनाका विद्रोही उछाल था, जिसके निसर्गसम्मत प्रसरण और सन्तुष्टिके सब मार्गों पर स्मृतिकारोंने कांटे रूँध दिये थे।

किन्तु इस कोटिया निगड़ित जीवनधाराका प्रवाह किसी न किसी रूपमें होकर रहता, और होकर रहा। स्वतन्त्र देश और स्वतन्त्र समाजके स्त्री-पुरुषों की वदन मुद्राका ध्यानसे अध्ययन किया जाय, तो उनके अन्तर्लोककी छाया स्पष्ट ही मुद्रागत सौन्दर्य्यमें विच्छुरणशील होती प्रतिभासित होगी। जिस समाज की प्रत्येक शिरासे म्लान, उदासीन, उन्मन, विवश, म्रियमाण जीवनका हाहाकार भयातुर मौनकी अवसन्न स्तब्धतासे बह रहा हो, उस समाजके स्त्री-पुरुषोंके नेत्र सविशेष दर्शनीय होते हैं—दर्शनीय, इसलिए नहीं कि उनसे आनन्दकी उपलब्धिकी जाय, प्रत्युत इसलिए कि निसर्गकी युगान्तरव्यापिनी प्रक्रियाओंका अध्ययन किया जाय। भयाविष्टता जितने प्राणियोंके जीवनका विशिष्ट लक्षण होती है, प्रकृति उनकी आँखें उभरी हुई बनाती है, जिससे वे पुरतः, पृष्ठतः, अभितः, परितः सभी ओर दृष्टिपात कर सकें और शत्रुको देख-कर भाग सकें। बन्धन-जर्जर समाजके जीवनकी प्रत्येक प्रक्रियामें विभीषिका ही विभीषिका उच्छल रहती है, अतः कुछ पीढ़ियोंके बाद उसमें भी नेत्र एक विशेष आकार धारण करते हैं, उनमें एक प्रबल अभिव्यक्तिशीलता आ जाती है, ऐसी अभिव्यक्तिशीलता, जिसके निर्गमनके सभी मार्गोंपर समाजके महा-आकर बाँध बँधे हैं। इस अभिव्यक्तिशीलतामें प्रतिपदपर कोई न कोई इतिहास

छिपा रहता है—व्यक्तिका इतिहास नहीं समूचे समाजका वह इतिहास, जिसके भीतरसे व्यक्तिका जन्म हुआ है। ऐसी आँखोंसे आँसू नहीं निकलते पर अव्यक्तरोदनके व्यक्ततम हाहाकारका वह उद्दाम आवेग उच्छल होता रहता है, जिसके प्रत्येक आवर्त-विवर्तमें शंकर भगवान्‌के तृतीय नेत्रको पदे-पदे लज्जित करनेवाली कराल ज्वालाओंके दुरतिक्रम जालोंका अपरिमेय धूत्कार आविष्ट रहता है। भारतीय रूपक परिभाषामें चाहे जो कुछ भी हो अपने अन्तःस्वभाव में वह विवश समाजके प्राणियोंके नेत्रोंसे बहुत कुछ मिलता जुलता है। पाश्चात्य नाटकमें जीवन्मेषमयी मुक्तिसे उद्भूत विकासशील वैविध्य है, भारतीय रूपकमें विवश जीवनका निरुद्देश्य गाम्भीर्य। पाश्चात्य नाटकमें प्रत्येक युगके उत्थान-पतनकी प्रवृत्तियोंका नैसर्गिक प्रतिबिम्बन हुआ है, पर भारतीय नाटकमें जीवित युग की साँसकी ऊष्मा ढूँढना व्यर्थ है—उसमें यदि वैविध्य है भी, तो बहुत ऊपरी और छिछले ढङ्गका। स्वप्नवासवदत्तम् पढ़िये या मालविकाग्निमित्र या रत्नावली या मालतीमाधव सबमें एक ही प्रकारका घिसा-घिसाया प्रेम मिलेगा, जिसके स्वरूपमें युगधाराके भिन्न-भिन्न प्रवाहोंने कोई तात्विक अन्तर नहीं उत्पन्न किया, यह दूसरी बात है कि कोई रवीन्द्रनाथ जैसा कृती अपनी कल्पनाकी उदारतासे उन पर महत्ताका परिधान हठात् डाल दे। परन्तु निश्चय बुद्धि कब तक इस धोखेमें बनी रहेगी कि यह परिधान मँगनी का नहीं है।

पाश्चात्य जीवनके मुक्त प्रवाहने वहाँके मानवके परिवर्तमान असंख्य लक्ष्य युगकी अपेक्षाओंके अनुसार उपस्थित किये और उन्हीं लक्ष्योंकी ओर दौड़ते हुए जीवनोंकी आपेक्षिक और वैविधिक गतिने कलाकारके सम्मुख अनन्त प्रकारके चरित्र उपस्थित किये, यही [illegible] चरित्र-मूलकताका! पाश्चात्य चश्मा लगाकर [illegible] य नाटकोंमें चरित्र-चित्रणकी बात करने [illegible] निभेद ढूँढने [illegible] स्पष्ट हो कि [illegible] याहिमकल्याण तेल। [illegible] समय यह देखना है [illegible] गुण मिलते हैं, भार-

तीय नाटककी प्रकृतिके साथ अन्याय करना है। यही कारण है कि भारतीय समीक्षा-शास्त्रमें इन शब्दोंका उल्लेख तक हमें नहीं मिलता—भरतसे लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक, कहीं भी नहीं। भारतीय नाटकका प्रतिपाद्य रस रहा है। यदि केवल इतनी ही परीक्षा कर ली जाय कि रसकी निष्पत्ति नाटकमें कहाँ तक हो सकी है, तो भी हम भारतीय नाटकके आलोचकको कृतार्थ मान सकते हैं।

रस-शास्त्रका मनोवैज्ञानिक अध्ययन डा० टण्डन (हिन्दू विश्वविद्यालयने) प्रस्तुत किया है और एतद्विषय सम्बद्ध लेखक-विशेषका अध्ययन डा० के०बी० पाण्डेयने। बाबू श्यामसुन्दरदास (साहित्यालोचन तथा रूपकरहस्य), आचार्य्य शुक्ल (काव्यमें अभिव्यञ्जनावाद), डा० भगवानदास (रसमीमांसा) डा० नगेन्द्र (रीतिकाव्यकी भूमिका तथा विचार और विवेचन) आदि विद्वानोंने आनुषङ्गिक रूपसे इस विषय पर कुछ कहा है। पर अभी तक भारतीय समाजके ऐतिहासिक विकासकी परिस्थितियोंके साथ समन्वय दिखाते हुए रसशास्त्रके विकासका अध्ययन नहीं हुआ, अन्यथा नाटकके स्वभाव-विशेषणका कार्य अपेक्षाकृत सरल होता। प्रथम यूरोपीय महायुद्धने विश्वमानवकी प्रबल और उत्कट शृङ्खलाओंकी जो विभीषिका प्रस्तुतकी, उसने ईलियटको जन्म दिया, जिसने काव्यानन्दको अहंकी मुक्तिमें ही पाया[1]। परन्तु महायुद्ध तो उन अथःकाठिन्योपहासिनी समाज-शृङ्खलाओंका क्षीण झणत्कार मात्र था। उसके पूर्व एडगर एलानपोका जो इमेजिज़्म, यानी बिम्बकल्पनावाद चला, तथा जो अन्यान्य काव्य-दर्शन क्रोचे, बोदेलेयर, वर्लेन, रेम्बा, रोजेटी, मारिस, आस्करवाइल्ड, हापकिन्स, हर्बर्ट रीड, अरागाँ, जीद, गीविश, ब्रोडेन, स्पेण्डरकी चिन्ताधारामें अभिव्यक्त हुए, वे सबके सब सामाजिक बन्धनसे उद्भूत मूकरोदनके उच्छ्वास मात्र हैं। भारतवर्षमें आर्योंने अपने पशुबलसे एक सभ्य द्रविड़ जातिकी संस्कृतिके मानदण्डोंको तहस-नहस कर डाला, जिसके भग्नावशेष आज भी मोहनजोदारोमें मिलते हैं। यही नहीं,

---

1—Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion. It is not the expression of personality, but an escape from personality.

द्रविड़जातिको ठोंकपीटकर आर्थिक और सामाजिक चक्रमें भी जड़ दिया गया और यह काम कोई तीन हजार वर्षकी तथाकथित समन्वय प्रवृत्तिका परिणाम था। सामाजिक काराकी निविड़-तमसाछन्न, युगपोषित हीनताका प्रथम अधुना-प्राप्य कला-विलास हालकी गाहासत्तसईके रूपमें प्रस्फुटित हुआ। कहना न होगा कि गाहासत्तसई अपने ढङ्गका प्रथम प्रयास नहीं है। उसके पीछे एक विशाल साहित्य रहा होगा जो आज अप्राप्य है।

जैसे योरपकी सामाजिक कारा ईलियटके भाग्यवाद (fatalism) की जननी है, ठीक उसी प्रकार प्राक्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति भारतीय भाग्यवादकी, जिसने पहले पहल आर्य्येतर जातियोंमें ही विकास पाया और मज़ेकी बात यह कि हीनताको म्रियमाणतामें जन्म लेनेवाला यह चिन्तन धीरे धीरे आर्य्येतर जातियोंका 'दर्शन' (philosophy) भी बन गया जैसा कि स्वाभाविक भी था। आर्य्यजातिको अपने स्वतन्त्र चिन्तनकी उर्वर भूमि पर उपनिषदों और रामायण-महाभारतके रूपमें जो प्रसून खिले वे अन्तिम थे, जैसा हम ऊपर लिख आये हैं ५०० ई० पू०के बाद सारी आर्य्य-चेतना खूब मोटी-मोटी रस्सियाँ बँटनेमें लग गयी, इतनी मोटी, जिनसे बँधकर समाज कभी तुड़ाकर भाग न सके। परन्तु जैसा सदासे होता आया है, नियामक अपनी ही वागुरामें फँस गया, और अपनी आदर्श निर्माण-क्षमता खो बैठा। यही प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाजके पतनकी चरमावस्था है। कुछ बहके हुए प्रतिगामी स्मृति और धर्मशास्त्रमें रुर खपाकर जिन तथा-कथित 'सत्यों' का परिशोध कर उन्हें आदर्शकी संज्ञा देकर अपने बुद्धि वैभवका उद्धत परिचय देते हैं, उन 'सत्यों' में कोई अन्तःसार नहीं है। वे आदर्श नहीं, टेक हैं, जिसे चिन्तनहीन समूहका दुराग्रह कहा जाय, तो हमें अशालीन भाषाका प्रयोक्ता कहकर लाञ्छित नहीं किया जाना चाहिए। शुङ्गोंके कालसे भारतीय समाज जिस 'आदर्शवाद' से अनुप्राणन पाता रहा, वह आदर्शवाद नहीं टेकवाद या दुराग्रहवाद था। राजपूतोंका जौहर और सती प्रथा इसी टेकवादकी देन थे, जिनका परास्त होना अवश्यम्भावी था और वे परास्त होकर रहे। मुसलमानोंका आक्रमण तथा अन्य विदेशियोंकी विजयलिप्सा पर ही भारतीय पतनका सारा

का पक्षपात मात्र है। यह आक्रमण भी हमारी सामाजिक दुरवस्था द्वारा ही आहूत हुए थे।

जो भी हो, लगभग इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर या कमसे कम ऐतिहासिक तथ्योंका निष्पक्षपात परिशोधकर हम रसशास्त्र, आलोचना शास्त्र, नाट्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्रियोंका मूल्याङ्कन करें, तो सम्भव है, उस मूल्याङ्कनका भी कोई मूल्य हो। ईलियटमें जो अतिवस्तुवाद या अहंकी प्रमुति मिलती है, उसमें अतिवस्तुवाद संज्ञा तो भ्रमपूर्ण होती मात्र है। प्रत्येक विद्यार्थीको यह पूछनेका अधिकार है कि यदि अतिवस्तुवाद संज्ञा ठीक है, तो अतिवस्तु-भूमिकाके वे कौनसे सत्य हैं, जिन्हें ईलियट या उनके पूर्वगामियोंने हमें दिया। रोमाण्टिक विद्रोह भी इसी प्रकारकी परिस्थितियोंमें जन्म लेनेवाला एक छूँछा विद्रोह मात्र था, क्रान्ति नहीं, ठीक क्लीव-पुरुषोंके ताली बजाने या गाली बकनेमें जितना शक्तिसम्पन्न। ठीक उसी प्रकार हम रसशास्त्रसे पूछें कि भरत, भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन या अभिनव गुप्तने जो कुछ द्वाविड़ीय प्राणायाम किया, उसकी समाधि दशामें किन सत्योंका साक्षात्कार उन्हें हुआ? और जब उत्तर देनेके लिए कुछ नहीं रह जाता, तब आप कहते हैं कि साहित्य तो एक प्रक्रिया मात्र है 'परप्रत्यक्ष' की प्रक्रिया मधुमती भूमिका पर पहुँचा देनेकी प्रक्रिया। जब प्रश्न उठा कि मधुमती भूमिका पर कौन सा या कैसा मधु मिलता है, तो तुरन्त उत्तर मिला कि वह तो ब्रह्मानन्द सहोदर है। वह बताया कैसे जा सकता है? वह तो गूँगेका गुड़ है।

अतः आजके विद्यार्थीको इन गूँगोंसे शिरः परिचालन मात्र मिलता है, कोई स्पष्ट उत्तर नहीं। भारतीय साहित्य किन महान् सत्योंका प्रतिष्ठापक है, यह पूछना तो उन गूँगोंको व्यर्थ ही परेशान करना है। इसमें सन्देह नहीं कि इस गूँगानन्दके पीछे एक विशाल साहित्य है, जो कभी-कभी यह भी कहनेका दम्भ कर बैठता है कि वेदान्त और साहित्यका लक्ष्य एक ही है। परन्तु वेदान्त योगज प्रत्यक्षके ऊपरका परप्रत्यक्ष है और साहित्य-रस लौकिक प्रत्यक्षके ऊपरका परप्रत्यक्ष; अतः यह दम्भ तो मूलतः गलत है। रागहीन प्रत्यक्ष और सराग प्रत्यक्षकी चरम परिणति आपाततः एक कैसे हो सकती है? और इतनीसी मूलगत बात समझ लेनेके अनन्तर यह कहना कि "साधक और कवि

में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती भूमिकामें ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है,"[1] बिलकुल अविश्वसनीय मालूम होने लगता है। साहित्यमें अधिकसे अधिक इतना होता है कि विशेषसे हटकर सामान्यकी धारणा होने लगती है, जो विशेषजन्य लौकिक आनन्दसे कुछ अधिक निर्बाध आनन्द को जन्म देती है[2]। एक और भी प्रश्न रह जाता है और वह यह कि क्या कारण है कि भारतीय नाटकोंकी निवर्त्तक-समापत्तिशीलता यौन-समस्याओं यानी स्त्री-पुरुषके विविध आकर्षणोंके इर्दगिर्द ही चक्कर लगाती रह गयी ? कौन जाने वेदान्त वेद्य सत्यके साक्षात्कार या ब्रह्मानन्द सहोदरकी मुक्तिके लिए यही समस्या अव्यर्थ उपादानके रूपमें साहित्य-महर्षियोंको अच्छी लगी हो। अस्तु।

जैसा इस विवादके पहले कहा गया है कि नियामक आर्य जाति अपनी आदर्श-निर्माण-क्षमता खो बैठी, वही बात भारतीय नाटकोंके अन्तस्तत्त्वके विश्लेषणके लिए अधिक समीचीन प्रतीत होती है। जो आर्येतर 'दर्शन' एक शतशः सहस्र : बन्धन-जड़ित समाजसे निकले वही कालान्तरमें इस गतसार आर्य्य जातिके भी दर्शन बन गये। एक बन्धन ग्रस्त समाज सदासे भाग्यवादका शिकार होता आया है और अन्तर्मुखीनता उसके साहित्यका मेरुदण्ड बनती आई है, जैसा योरपीय साहित्यके वादोंके प्रसङ्गमें दिखाया जा चुका है। यह भाग्यवाद और तज्जन्य अन्तर्मुखीनता ही भारतीय नाटकमें सर्वत्र मिलेंगे, माससे लेकर 'प्रसाद' जीके नाटकों तक। स्मृतियों और धर्म-

---

१—डा० श्यामसुन्दरदास–साहित्यालोचन, १९९४ संस्करण, पृ० २३३

२—भावकके द्वारा विभाव-अनुभाव आदि व्यक्ति सम्बन्धसे मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्यमात्रके अनुभवके योग्य बन जाते हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं रहने पाती। प्रेक्षकके हृदयमें यह ज्ञान नहीं रहता कि यह दुष्यन्तकी स्त्री शकुन्तला है; वह उसको स्त्री-मात्र समझता है। इसी प्रकार दुष्यन्त पुरुष-मात्र रह जाता है। व्यक्तित्व, देश-काल आदि विशेषताएँ दूर हो जाती हैं। इसका फल यह होता है कि स्थायीभाव मनुष्यमात्रके द्वारा भोग किए जाने योग्य हो जाता है, साधारण हो जाता है" भट्टनायकका मुक्तिवाद-साहित्यालोचन, उपर्युक्त संस्करण, पृ० २२९

तथा वीथी, प्रहसन, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक आदि अट्ठारह प्रकारके रूपक (उपरूपकोंको मिलाकर) अपने लक्षणोंके सहित ग्रन्थोंमें वर्णित हैं और इन्हीं लक्षणोंके अनन्तर प्राप्त संस्कृत नाटकोंकी संख्या कुछ सौसे ऊपर है, तथापि इनका साहित्यिक किंवा ऐतिहासिक मूल्य नहींके बराबर है। सामन्त-शाहीने शक्ति प्रदर्शनको प्रोत्साहन दिया और स्वयंभी विलासमें निमग्न होती हुई अपने भाग्य अधःपतनकी ओर द्रुतगतिसे बढ़ने लगी। इससे भी साहित्य-कार समाजसे कोई अनुशासन नहीं पा सका, विशेषकर नाटककार। तथापि शूद्रक, विशाखदत्त, गुणभद्र, और इनकी दो पीढ़ियाँ किसी छोटे या बड़े अन्धकार युगके बाद उत्पन्न हुई थीं; अतः उनमें निर्माण और विकासके बीज वर्तमान थे, और इसीलिए इस समयका नाटककार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे कुछ न कुछ अनुशासन अपने युगसे प्राप्त करता रहा। पर कालान्तरमें सामन्तशाही भी अपनी विलासमूलक जागीरें खो बैठी; अतः नाटककारके पास सिवाय अपने अतीतका निर्जीव अनुकरण करनेके और कुछ उपाय शेष न रहा। उत्कृष्ट नाटक रचनाका आरम्भ भास और अश्वघोषसे होता है और अन्त भवभूतिमें; जिनमें भारतीय नाटक कि प्रियमाणताकी पहली छाया मिलती है। कथा-भागकी गौणता और कविताकी असमञ्जस लदान, यह तो पहले हीसे भारतीय नाटककी विशेषताएँ थीं, जिसका कारण सम्भवतया यह था कि नाटककारोंने रामायण-महाभारत, पुराणों तथा गुणाढ्यकी बृहत्कथा तक ही अपने वस्तुको सीमित रखा और अपने वर्तमानको छूनेका प्रयास नहींके बराबर किया,* परन्तु पहलेके नाटकोंकी कविता कथाका आश्रय लेकर चलती थी, पर कालान्तरके नाटकोंमें कविता ही कविता रह गई, जिसका कथांशसे कोई सम्बन्ध ही न रहा। वह कविता भी रीतिकालीन कविताके समान शास्त्राभ्यास-मात्र थी।

शास्त्रकारोंने इस पतनमें कम योग नहीं दिया। भरतसे लेकर धनञ्जय तक नाट्य शास्त्र-निर्माताओंमें काफी चहल-पहल रही, पर इनके समूचे प्रयास से एक अच्छी-खासी व्यायाम-शाला मात्र तैयार हो सकी, जिसमें शरीर माँजने

* मृच्छकटिक, और मुद्राराक्षस मात्रही इस कथनके अपवादनीय हैं।

वाले पहलवान करतब और जौहर तो खूब दिखा सकते हैं, पर आपत्तिकालमें सामान्य मनुष्यको जूझनेका काम सौंपकर स्वयं व्यायामशालाके भीतर शरीर की थकान दूर करने चले जाते हैं। शास्त्रकारों ने छेनी का कौशल बिल्कुल नहीं सिखाया, बल्कि साँचे गढ़े जिनमें मिट्टी भरने मात्र से कोई भी बुद्धिहीन व्यक्ति खिलौना बना सकता है। टीका रचना के इस अनुर्वर युग में यही वैविध्यहीन खिलौने नाटक के रूपमें प्रस्तुत हुए, जिनकी संख्या तो काफी है; पर जिनमें देखने योग्य या गौरव करने योग्य कुछ नहीं है। प्रकार वैविध्य के नाते कृष्णमिश्रका प्रबोध- चन्द्रोदय, किसी अज्ञात लेखकका महा-नाटक तथा जयदेवका गीतगोविन्द (जो यात्राके रूपमें होनेसे नाटक तथा कविताका घोल माना जाता है) उल्लेखनीय हैं।

जर्मन लोग गम्भीरताके कारण नहीं हँसते पर भारतीय हँसना जानते ही नहीं। पहले भी नहीं जानते थे। वैसे हँसते जरूर थे, पर उसी प्रकार जैसे किसी पशुको हँसना सिखाया जाय और वह किसी सरकसमें आकर हँसदे। कहते हैं कि स्टालिन बहुत कम हँसता है और राजनीतिज्ञों की बैठकमें वह केवल एक बार हँसा था, जिस हँसीमें भावी युद्धका सन्देश छिपा था, और उसके थोड़े ही समय बाद १६३६ का विश्वव्यापी महासमर छिड़ भी गया। समूचे भारतीय इतिहास के महापुरुषोंमें केवल एक ही महापुरुष ऐसा हुआ जिसकी हँसीका कुछ अर्थ होता था, और वह थे महात्मा गान्धी। भारतीय सभ्यताके शेष सम्पूर्ण ज्ञात और अज्ञात इतिहासमें हास्यका अभाव रहा है, वैसे नग्न हास्य जैसा शारीरिक किन्तु अर्थशून्य हास्य काफी रहा है। परिणामतः कालि-दास जैसे बड़ेसे बड़े नाटककारोंके विदूषक भोजन-भट्ट मात्र हैं और प्रसङ्गगत हास्य भी बड़ा भोंडा है। अन्य देशोंमें जहाँ-तहाँ इतिहासके बदलते हुए मूल्य मानवमनका ताड़न कर सके, वहाँ-वहाँ एक मूल्य स्तर पर अमी सभ्यता दूसरे स्तरकी सभ्यताका उपहास या परिहास कर सकती थी, पर भारतवर्षका इतिहास राजनीतिक परिवर्तनोंका इतिहास अधिक रहा है, सामाजिक परि-वर्तनोंका बिल्कुल नहीं। अतः यहाँ हास्यकी सृष्टि न तो तब सम्भव थी और न अब है। वैसे श्रीहर्षने वेदान्ती होनेके कारण नैयायिकों का मज़ाक उड़ाया है, और हिन्दू दार्शनिकोंने बौद्धोंका, पर मतमतान्तरगत यह वैभिन्य व्यक्तिगत

थे समूहगत नहीं और समाजगत बिल्कुल नहीं। अतः ऐसे विभेदोंके आधार पर हास्यकी सर्जना नाटकमें नहीं हो सकती थी। परिणाम यह हुआ कि प्रहसन और भाण जो यहाँ रचे गये (मत्तविलास प्रहसन और चतुर्भाणीको छोड़कर) वे सबके सब बहुत मन पड़े तो हुड़दङ्ग होकर रह गये और सामान्य लेखकोंके हाथमें पड़कर तो बेहद फूहड़ भड़ैती हो ही गये। मज़ेकी बात यह है कि बाँरहवीं शताब्दी† से लेकर १८ वीं शताब्दी तक इस प्रकार का नाट्यसाहित्य बड़े वेगसे रचा गया, जिसका कारण शायद उस काल की अत्यन्त अधःपतित सामन्तशाही थी और थोड़ा कुछ जनता भी, क्योंकि आजके बीस वर्ष पहले जो नौटङ्कियाँ और भाँड़ोंके नाच शादी-ब्याहके अवसरपर आया करते थे वे हमारे अतीतके किसी न किसी अंश की देन हैं, अङ्गरेज़ी सभ्यता की भेंट नहीं।

समूची भारतीय नाट्यकला जीवनसे दूर नहीं, अपने विकासकालमें

---

† वत्सराज (१२ वीं शताब्दी) के कर्पूर चरितसे लेकर काशीपति कविराज (१८ वीं शताब्दी) के मुकुन्दानन्द तक, ७०० वर्षोंकी इस दिशामें कुछ प्रसिद्ध कृतियाँ यह है :—

(१) शृङ्गारभूषण–वामनभट्टबाण १४ वीं शताब्दी, (२) वसन्ततिलक वरदाचार्य्य या अम्मालाचार्य्य १७ वीं शताब्दी, (३) शृङ्गारतिलक–रामचन्द्र दीक्षित १७ वीं शताब्दी, (४) शृङ्गार सर्वस्व–नल्लदीक्षित ८ वीं शताब्दी, (५) रससदन–केरलयुवराज कोटिलिङ्गपुर, (६) पञ्चबाणविजय–रङ्गाचार्य, (७) शारदातिलक–शङ्कर, (८) रसिकरञ्जन–श्रीनिवासाचार्य्य, (९) भगवज्जुकीय (शायद १२ वीं शताब्दीसे पहलेका), नटविटप्रहसन–यदुनन्दन, लटकमेलक–कविराज शङ्खधर (१२ वीं शताब्दी), धूर्त्त–समागम–ज्योतिरीश्वर कविशेखर (१४ वीं शताब्दी), कौतुकसर्वस्व–गोपीनाथ चक्रवर्त्ती, कौतुक रत्नाकर-कवितार्किक (१६ वीं शताब्दी) और धूर्त्त नर्त्तक–सामराज दीक्षित।

विशेष विवरणके लिए द्रष्टव्य C. Capeller.Intro. Dhurt: samagama, janasten know-Indian Drama p.121-123 1883. S.K. de-J, R. A.S. 1926 PP. 63–90.

उसने जो कुछ दिया, वह जीवनसे ऊपरका मोहक सौन्दर्य था, ह्रासकालमें उसने जो कुछ दिया, वह क्षुद्र मादन मात्र था, परन्तु थीं, दोनों प्रवृत्तियाँ जीवनसे दूर। विकासकालमें चरित्रवैविध्य एवं गति साध्य न होते हुए भी किसी न किसी अंशमें प्राप्य थे ही, कालान्तरके पात्रोंमें केवल नामका विभेद था, चरित्रका नहीं और लक्ष्यहीन कविताकी भरमार थी। शास्त्र-चिन्तन भी ऊपरी लक्षणोंके संग्रह तक ही सीमित रह गया। अन्य देशोंसे भारतवर्षका जो सम्पर्क हुआ, उससे भी भारतीय नाटक अछूता रह गया और आजके विद्वान तो यही सिद्ध करनेमें अपने बुद्धिवैभवका उत्कर्ष समझते हैं कि भारतीय नाटकपर यूनानका प्रभाव नहीं पड़ा[1]। यदि ऐसा प्रभाव पड़ता, या कम से कम दोनों प्रकारके नाट्यचिन्तनका चेतन संघर्ष भी होता, तो वह भारतीय नाटकके विकासके लिए बहुत बुरा न होता। लोक-भाषाओं जैसे प्राकृत और अपभ्रंश एवं आधुनिक भाषाएँ जैसे, ब्रज अवधी आदि भी संस्कृतिसे इतनी प्रभावित हो गयीं कि उनका उदय नाट्यचिन्तनको तनिक भी आगे नहीं बढ़ा सका और उनमें प्राप्य नाट्य साहित्य नगण्य-सा है। मुसलमानोंके आक्रमणको कुछ लोग नाट्यसर्जनाके ह्रासका कारण समझते हैं, परन्तु इसके पहले ही नाट्यचेतना प्राणहीन हो चुकी थी, जिसका कारण सामाजिक था, राजनीतिक बहुत कम। बाहरसे आनेवाले मुसलमानोंकी संख्या नगण्य थी, और जो लोग मुसलमान बने उनका मस्तिष्क और हृदय भारतीय था तथा बाहरसे आनेवाले भी अपने साथ कोई ऐसी सन्देशमयी संस्कृति नहीं लाये, जो भारतीय मनोधाराको इस सांस्कृतिक संघर्षको ओर अतिशय जागरूक कर दे[2]; अन्यथा उससे भी नाट्यसर्जनाको अनुप्राणन ही मिलता।

१—इस समस्या पर साङ्गोपाङ्ग विवेचनके लिए द्रष्टव्य—W. W. Tara—Greks is Bacria and India—[cambridg 1381] तथा D. R. Bhandarkar volume [1940] में keith का लेख पृ० २२४।

२—डा० ताराचन्द (इन्फ्लुएन्स आव् इस्लाम आन इण्डियन कल्चर) का मत इसके विपरीत है, परन्तु नाटक किंवा काव्यके अन्य रूपोंपर मुसलमानोंके

अतः किसी दिशासे जीवन-रस न पाकर धीरे-धीरे नाट्यसर्जना स्मृतिशेष रह गयी। यही क्या कम आश्चर्य है कि ७०० ई० से लेकर १८०० ई० के आस पास तक नाट्यसर्जना होती रही।

व्रज, अवधी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओंमें गद्यकी क्षमता अधिक न होनेसे, अथवा किन्हीं अन्य कारणोंसे[1] नाट्यसर्जना नहीं के बराबर हुई। भारतेन्दु बाबूकी प्रतिभा तथा खड़ीबोलीकी गद्य-क्षमताके मेलसे नाट्य-रचनाके त्रुटित क्रमका सन्धान हुआ। इनके अनन्तर दूसरी उल्लेखनीय प्रतिभा प्रसादजीकी थी, और अब तो सेठ गोविन्ददास, डा० रामकुमार वर्मा, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट, गोविन्दवल्लभ पन्त, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, पं० सद्गुरुशरण अवस्थी, वृन्दावनलाल वर्मा आदि कितने ही महारथी इस दिशामें स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं, जिसके भिन्न भिन्न पक्षोंका विवेचन डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (आधुनिक हिन्दी-साहित्य), डा० श्रीकृष्णलाल (आधुनिक हिन्दी-साहित्यका विकास), बाबू ब्रजरत्नदास (हिन्दी-नाट्यसाहित्य) और डा० सोमनाथ गुप्त (हिन्दी नाटकका विकास) आदि कितने ही विद्वान कर चुके हैं, उसके आगे कुछ कहना सरल नहीं है। एक बात और भी है। आधुनिक-साहित्य पर कुछ कहनेके लिए बुद्धिकी चाहे उतनी आवश्यकता न हो, साहस बहुत चाहिए। अँगरेजोंके शासनके परिणाम-स्वरूप सामन्तशाही यहाँसे मिट गयी और उसने बिखरकर मध्य वर्गको जन्म दिया, किन्तु नाटककारने इस ईषत्परिवर्तित सामाजिक संघटनका उपयोग नहीं के बराबर किया, कमसे कम उतना नहीं, जितना प्रेमचन्द, यशपाल, अश्क या खाण्डेकर जैसे उपन्यासकारोंने। कहते हैं कि उपन्यासकला योरप-से घूमते-घूमते बङ्गालमें आकर टिकी और अब वह हिन्दी-प्रदेशमें आ जमी

आक्रमणपर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा हो; प्राप्त साहित्यको देखते हुए ऐसा कहना कठिन है।

१—डा० श्रीकृष्णलाल—'आधुनिक हिन्दी-साहित्यका विकास' तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका' पृ० ११२–१२५।

है[1] और यह सत्य न भी हो, तो भी उपन्यास-क्षेत्रमें कुछ अधिक गौरवास्पद रचनाएँ हुई हैं, इससे इनकार नहीं किया जाता। पर नाटकके क्षेत्रमें द्विजेन्द्रलाल रायने जो दिशा दिखायी, उसके आगे प्रयास की दिशा अवरुद्ध-सी रही है, जिसका कारण शायद यह हो कि साहित्यकार और जनताके बीचका व्यवधान अभी इतना अधिक है कि दोनोंके बीच वैसा मानसिक सम्बन्ध नाटकके माध्यमसे नहीं हो सकता है, जैसा उपन्यासके माध्यमसे; जिसमें साहित्यकारको प्रत्यक्ष रूपसे पाठकको बहुत कुछ समझाने-बुझानेका भी अवसर मिल जाता है, यद्यपि कविताके बहुमुख विकास और प्रचलनको देखते हुए यह बात बहुत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती। ऐतिहासिक नाटककी दिशा में भी गति एवं वस्तु-संविधानकी दृष्टिसे ध्रुवस्वामिनी एवं चन्द्रगुप्त सर्वश्रेष्ठ हैं और प्रकारकी दृष्टिसे स्कन्दगुप्त, जिसमें पाश्चात्य दुःखपर्यवसायी नाटकको भारतीय वातावरणके उपयुक्त बनाकर सफल रूपसे निदर्शित किया गया है। राज्यश्री और अजातशत्रु इतिहास अधिक हैं, नाटक कम। अन्य प्रयास न इतिहास हैं न नाटक, जैसे सेठ गोविन्ददासका शशिगुप्त, यद्यपि सेठजीके अन्य प्रयास अधिक स्तुत्य हैं। डा० रामकुमार वर्माने अपने कौमुदी-महोत्सव के विषयमें स्वयं ही काफी कुछ कह दिया है। गुजराती भाषामें के० एम० मुंशीका ऐतद्देशीय प्रयास प्रसादजीके प्रयाससे कम महनीय नहीं है[2]।

तथापि नाटक-रचनाकी वास्तविक दिशामें अभी बहुत कुछ होना शेष है। वर्ग-निर्माण होनेपर भी वर्गचेतनाका जो अभाव था, वो दो महायुद्धोंके ताड़नसे अब वह दूर हो गया है। इतिहासके परिवर्तनशील मूल्योंकी ओरसे जो उद्भूतिन्तर सामाजिक-संघटनकी दुराग्रहपूर्ण रूढ़ताके कारण भारतीय चिन्ताधाराके दोनों कूलों तक छायी थी, वह अब भी वैसी ही है; पर शिक्षा के प्रसार और सांस्कृतिक संघर्षके जागरूक अनुभवके कारण मानसिक जीवन से उस उदासीनताको हटाना ही पड़ेगा, भलेही कुछ अन्य कारणोंसे सामा-

---

1—इलाचन्द्र जोशी—विवेचना। 2—यद्यपि पं० सीताराम चतुर्वेदीने मुंशीजीके ऐतिहासिक ज्ञानपर सन्देह प्रकट किया है—द्रष्टव्य मुंशी कृत अविभक्त आत्मा तथा पुरन्दर-पराजयके हिन्दी अनुवादकी भूमिका।

जिक जीवन रूढ़िकी कारामें आबद्ध रह जाय। आर्थिक वैषम्यकी प्रबल विभीषिकाने जन-जीवनके बीच स्मृतिकारके उपलेपनको स्पष्टसे स्पष्टतर कर दिया है और आर्थिक विद्रोहके समान सामाजिक विद्रोहके लिए स्वाभाविक उपकरण प्रस्तुत कर दिये हैं। बहुत सी दीवारें अपने आप गिरती जा रही हैं, यह केवल उपन्यासगत काल्पनिक सत्य ही नहीं है, सम्भूयमान वर्त्तमानका घटनागत तथ्य भी है। यौन समस्या आज और आनेवाले कलके लिए एक अर्थहीन प्रश्न है, अतः सिनेमा-जगतके छिछले प्रयास, जिन्होंने नाट्यरचना को थोड़ा कुछ प्रतिरुद्ध कर रखा था, अब पिछड़े हुए शहरोंके अपरिपक्व युवकोंको छोड़ और किसीके लिए आकर्षक नहीं रहे। अतः मौलिक प्रतिभा से उद्वेलित होकर यह चलनेका समय नाट्यधाराके लिए अब आ गया है, और आशा है कि शीघ्रही नाट्यरचना-चातुरी अपने विध्वस्त गौरवको पुनः प्राप्त कर लेगी।

३—हिन्दीमें गीतिकाव्यका विकास

गीतिभावना कविताके अन्तर्गत सार वस्तु है। आधुनिक हिन्दी-काव्यमें इस भावनाके दर्शन विविध और विशद रूपमें होते हैं, और हम कह सकते हैं कि आजके कविमें गीतिकाव्यकी प्रवृत्ति, प्रधान रूपसे देखनेको मिलती है। पर, यदि यह कविताकी सार वस्तु है, तो इसका अस्तित्व काव्यक्षेत्रमें हमें हरेकसे ही देखनेको मिल सकता है। हम आगे देखेंगे कि गीतिकी सार सत्ताके न रहते हुए किस प्रकार यह भावना हमें प्राचीन, मध्य और वर्तमान सभी कालोंमें विद्यमान मिलती है। सबसे पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि गीति-भावनाका क्या महत्व है और कविताके अनेक रूपोंके अन्तर्गत इसका अस्तित्व किस प्रकार रहता है। पद्य काव्य या कविताके तीन रूप हम देख सकते हैं। एक गीतिकाव्य कविता, दूसरी प्रबन्ध कविता और तीसरी मुक्तक कविता।

इन तीनों रूपोंमें मुक्तक कविताके अन्तर्गत, कुछ नीति-उपदेशयुक्त कविताको छोड़कर प्रायः गीतिभावनाकी विशेषताको हम तीन

रूपोंमें देख सकते हैं। प्रथम गेयत्व है। द्वितीय स्वानुभूतिका भाव और तृतीय कोमल भावकी सघनता है। अतः गेयत्व और सघन आत्मानुभूति जिस कवितामें एक साथ पायी जाती है, उसीको गीति-काव्य मानना चाहिए। उपर्युक्त तीनों विशेषताएँ यथार्थतः उसकी आभ्यन्तर और बाह्य विशेषताएँ हैं। गीतिकी आभ्यन्तर विशेषता इस बातमें मानते हैं कि उसके भीतर आत्माकी—अपनी निजी अनुभूति प्रगट हो। वर्णन चाहे किसी वस्तुका हो, पर गीतिके भीतर आकर वह वर्णन वस्तुका सामान्य, कल्पनागत वर्णन न रहकर कविकी अपनी अनुभूतिके भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है और वह न केवल वस्तुकी आत्मा और उसकी विशेषताओंका ही परिचायक होगा, वरन् उसके भीतर कविकी आत्मा, उसकी भावनाएँ, प्रतिबिम्बित और झाँकती हुई मिलेंगी। अतः गीतिकी प्रमुख विशेषता आत्मानुभूति हुई।

इस विशेषताके अन्तर्गत कविकी अनुभूतियोंका प्रकाशन, उसकी अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक विशेषताओंके आधार पर, अवश्य रहता है; पर हम उसे देख नहीं सकते। हम यह अवश्य देख लेते हैं कि कविकी भावना बड़ी सबल है और सीधे हमारी अनुभूतियों और प्रेरणाओंको जगाती चलती है। कविकी पावन, शुद्ध पारदर्शी दृष्टि, वस्तुके भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्त तथ्य देखती है, जो हमारे लिए नवीन होकर भी सत्य और तथ्यपूर्ण हैं। यह कविकी सूझ है, उसकी पवित्र व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलनेवाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णनको इतना अपना लेती है कि वस्तु अपनी—हृदयकी सखी—हो जाती है और अपनावके साथ-साथ हमारी असंख्य भावनाएँ उससे सम्बन्धित होकर ऐसी जाग उठती हैं कि फिर उनको सुलाना कठिन है। वे जगकर एक प्रेरणा भरती हैं और तब हम समझते हैं कि कवि कितना प्रतिभा-सम्पन्न और अन्तर्दर्शी है।

गीतिकी अन्य विशेषता भी जो उसके बाह्यरूपसे सम्बन्ध रखती है, यथार्थमें उसकी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित है। अनुभूतिकी तीव्रतामें कवि स्वाभाविक रूपसे गा उठता है, उसके सहज उद्गार गेयरूपमें ही प्रवाहित होते हैं, अतः गीतिकी गेयता भी स्वतः सिद्धि-सी है। गेयत्वका एक और रहस्य है। किसी भी भावका अनुभव हम बार बार करना चाहते हैं।

गीतिकी-स्वर-लहरियाँ ऐसी ही होती हैं कि बार-बार कहीं जाकर अनुभूति पर मधुर प्रभाव डालें। बार-बार कहने पर आनन्द देना गान की विशेषता है। साधारण बातको हम उतनी ही बार कहकर प्रत्येक बार वैसा आनन्द नहीं ले सकते, जितना किसी गानकी एक पँक्तिको सैकड़ों बार दुहराकर पाते हैं। स्वरकी दीर्घता और रस संहिति अनुभूतियोंको उकसाती है, उसकी कोमलता कानोंको मधुर लगती है और सम्पादन कल्पनाको सजग और विकसितकर देता है। अतः "गीति" की गेयता उसका आवश्यक गुण है।

अब हमें देखना यह है कि कविताका मुख्य सार यही गीत-भावना है। कविताके जो अन्य रूप मिलते हैं, उन्हें काव्यके अन्य रूपोंकी विशेषतायें मिलकर यह रूप देती हैं, पर सूक्ष्मतः विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कविताकी विशेषता गीति-भावनाके रूपमें प्रायः विद्यमान रहती है। अतः हम विभिन्नस्वरूपोंको लेकर अलग-अलग उसका विश्लेषणकर इस बात पर विचार करेंगे।

सर्व प्रथम हम नाटकीय कविताको लेते हैं। इस प्रकारकी कवितामें कवि अपनी भावनाओंको विभिन्न पात्रोंके वार्तालापके माध्यम द्वारा प्रकट करता है। इसमें कविकी भावना सीधे ढंगसे न प्रकट होकर दूसरों की अनुभूतियोंके रूपमें प्रकट होती है। इसमें वार्तालापका, जो नाटक या उपन्यासका उपकरण है, आश्रय कवि लेता है। पर यह बात उसे कविता तब तक नहीं बनाती, जब तक कि कवि स्वयं पात्रोंमें प्रवेश करके उस पात्रकी आत्मानुभूतिको प्रकाशित नहीं करता। कवि जब किसी पात्रकी आत्मानुभूति अभिव्यंजित करनेमें इस प्रकार समर्थ होता है कि पात्रके व्यक्तित्व अथवा उसकी आत्माकी झाँकी मिल सके, तभी उसका काव्य सफल है। बाह्यरूपकी अथवा उपकरणकी विभिन्नता होते हुए भी "गीति-भावना" का जो स्वानुभूतिकत्व उसमें विद्यमान रहता है, वही उसे कविताका रूप देता है। अतः कविकी मुख्य विशेषता, नाटकीय कवितामें भी "गीति भावना' के रूपमें छिपी रहती है।

प्रबन्ध-काव्यमें कविता कथानकका सहारा लेकर चलती है, अतः घटना-सौन्दर्य भी उसमें आ जाता है, पर यह कविता है, तो उस धारामें

कविकी अपनी अनुभूति घुली-मिली अवश्य रहती है, कहीं कहीं तो नाटकीय कविताकी भाँति और कहीं-कहीं दर्शककी भाँति। इस प्रबन्ध कवितामें भी आनन्दकी मात्रा आत्मानुभूतिके साथ-साथ प्रखर हो जाती है, नहीं तो गतिमय उद्गारों और आत्मानुभूतिके अभावमें प्रबन्ध कविता और कहानी या उपन्यासमें कोई अन्तर नहीं रहता।

उपर्युक्त विश्लेषणके उपरान्त हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविताकी मुख्य प्रेरणा आत्मानुभूति है और वही जब स्वाभाविक गतिमय और गेय स्वर-लहरीमें प्रकट होती है तो "गीति" हो जाती है, अन्यथा अन्य उपकरणों और शैलियोंका सहारा लेकर अन्य रूपोंको धारण करती है। इसी स्वानुभूतिकी प्रधानता होनेके कारण ही कबीर तथा निर्गुण साधकोंको कवि बननेका उद्देश्य न रहते हुए भी कविका गौरव मिला और इसीके अभावमें कुछ कवि पूरे उपकरणोंको लेकर चलते हुए प्रभावशाली कविताकी सृष्टि न कर सके। अतः हम देखते हैं कि कविताके क्षेत्रमें "गीति"का अपना महत्व है।

यहाँपर गीति-काव्यके सम्बन्धमें यह भ्रम भी दूर हो जाना चाहिए कि प्रत्येक गीत या गान गीति-काव्यके अन्तर्गत रहता है। गीतिके भीतर वह पद रक्खे जा सकते हैं, जो लेखककी अपनी अनुभूतिको अपने रूपमें प्रकट करने वाले हों, अन्य पद नहीं। इसी प्रकार कविके स्वानुभूति सम्बन्धी वे कथन भी गीति-क्षेत्रके बाहर हैं जो सहज तथा स्वभाविक नहीं हैं और जो गाये नहीं जा सकते अथवा नीति और उपदेशके रूपमें हैं। अतः जहाँ पर दोनों ही विशेषताएँ मिलती हैं, वहीं पर हम "गीति" काव्य पाते हैं। गान या पद वे हैं, जो संगीतके स्वरोंके नियमानुसार साजपर गाए जा सकें। उनमें आत्मानुभूति हो या न हो। गीतिमें आत्मानुभूति होनी आवश्यक है, पर उसका गेय संगीतात्मक शब्द-चयनमें ही बहुधा रहता है। गीतिको हम दो रूपोंमें देख सकते हैं—एक शुद्ध गीति और दूसरे प्रगीतमुक्तक। शुद्ध गीतिमें स्वानुभूतिनिरूपण करनेवाले गीत हैं, जिनमें प्रायः प्रथम या द्वितीय पंक्ति टेकके रूपमें पद पूरा होनेपर दुहराई जाती है और प्रगीतमुक्तकके अन्दर वे अन्य छन्द हैं, जिनमें स्वानुभूतिका तीव्र प्रकाशन संगीतात्मक शब्दोंमें होता है, वे

ललित स्वरके साथ पढ़े जा सकते हैं, शास्त्रीय-पद्धतिपर 'सेट' करके गाये गाए न जा सकें। इस दृष्टिसे देखनेपर भारतीय साहित्यका अधिकांश गेय काव्य, गीतिके क्षेत्रसे बाहर है, क्योंकि उसमें दोनों विशेषताएँ एक साथ नहीं मिलती हैं। परम्पराके रूपमें हिन्दी-काव्यको संस्कृतसे गीतिके रूपमें अधिक प्रेरणा नहीं मिली। जयदेवके 'गीत गोविन्द'का प्रभाव विद्यापति तथा अष्टछाप और कृष्णभक्त कवियोंपर अधिक पड़ा। "गीत-गोविन्द" तथा विद्यापतिके गीतोंमें शुद्ध गीति भावना हमें देखनेको नहीं मिलती और यही तथ्य अधिकांशमें अष्टछाप और कृष्ण-भक्त कवियोंके पदोंके सम्बन्धमें भी सत्य है। ये कवि प्रायः राधाकृष्णकी लीलाका वर्णन एक दर्शकके रूपमें करते हैं और अन्तिम चरणमें अपनी छाप डालनेके साथ-साथ यह भाव भी प्रकट कर देते हैं कि वे भी उस वर्णनमें कहीं दर्शकके रूपमें, कहीं वर्णन करनेवालेके रूपमें उपस्थित थे। इसे और अधिक स्पष्ट करनेके लिए हम विद्यापति, सूर, नन्ददास आदिके कुछ पदोंको उद्धृत करेंगे, जिनमें उन्होंने कृष्णलीलाका वर्णन किया है और जो उनके काव्यके प्रतिनिधि पद कहे जा सकते हैं। प्रथम हम विद्यापतिके विरह-प्रसंगका एक पद लेते हैं:—

मधुपुर मोहन गेल रे मोरा बिहरत छाती।
गोपी सकल बिसरलनि रे जत छल अहिवाती॥
सुतलि छलहुँ अपन गृह रे निन्दइ गेलउँ सपनाइ।
करसों छुटल परसमनि रे कोन गेल अपनाइ॥
कत कहबो कत सुमिरब रे हम भरए गरानि।
आनक धन सौ धनवंती रे कुब्जा भेल रानि॥
गोकुल चान चकोरल रे चोरी गेल चन्दा।
बिछुड़ि चललि दुहु जोड़ी रे जीव दइ गेल फंदा॥
काक भाख निज भाखह रे पहु आओत मोरा।
खीर खांड़ भोजन देब रे भरि कनक कटोरा॥
भनई "विद्यापति" गाओल रे धैरज धर नारी।
गोकुल होयत सोहाओन रे फेरि मिलत मुरारी॥

उपर्युक्त पदमें कृष्णके मथुरा चले जाने पर गोपियोंकी विरह-दशाका

र्णन है। उनके भीतर कृष्णके चले जाने पर दुःख पश्चात्ताप, खीझ ग्लानि और साथ-ही-साथ राधाके भावोंका संचार हो रहा है; पर है यह वर्णन-मात्र। विद्यापति इसका वर्णन करते हैं, उनकी अपनी भावनाएँ ये नहीं हैं। वे उपदेशक रूपमें गोपियोंको धैर्यधारण करनेका ही उपदेश देते हैं और यह आशा दिलाते हैं कि गोकुलमें कृष्ण आयेंगे और गोकुल सुहावना लगा। पूरे गीतमें विद्यापतिकी कविके रूपमें स्वानुभूति नहीं वरन् दूसरेकी अनुभूतिके रूपमें है। अतः हम शुद्ध गीति-भावनाके अन्तर्गत इसे नहीं रख सकते।

इसी प्रकार सूरसागरसे भ्रमर-गीत-प्रसंगके अन्तर्गत हम बहुत ही अधिक गीति-भावनाके समीप आ सकनेवाले नीचे लिखे पदको लेते हैं—

"फूल बिनन नहीं जाउँ सखी री! हरि बिन कैसे बिनौं फूल!
सुन री, सखी! मोहि राम दोहाई फूल लगत तिरसूल।
जे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल झारसे लागत झरि झरि परत अँगार॥"

× × ×

"कैसे के पनघट जाउँ सखी री! डोलौं सरिता तीर।
भरि-भरि जमुना उमड़ि चली हैं इन नैनन के नीर।
इन नैनन के नीर सखी री! सेज भई घरनाउ।
चाहति हौं याही पै चढ़ि के श्याम मिलन को जाउँ।
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय।
सूरदासके प्रभु सों सजनी कौन कहे समुझाय।"

सूरदासके ऊपर लिखे पदमें गोपियोंकी दशाका वर्णन है। अपनी विवशता, अपनी उत्कण्ठा, अपने दुःखकी भावनाओंका वर्णन एक गोपी दूसरी सखीसे करती है। सूरदासका सम्बन्ध इस भावनासे इतना ही है कि कृष्ण, जो गोपियोंके पति हैं, सूरके भी प्रभु हैं। पर गीतिमें वर्णित भावनाएँ सूरकी अपनी स्वानुभूत भावनाओंके रूपमें नहीं हैं। सगुणोपासक भक्त कवियोंके गीतोंमें जहाँ भी कृष्ण तथा रामकी जीवन-लीलाका वर्णन है, वहाँ पर न सूर और उनके साथियों में और न तुलसी हीमें शुद्ध गीति-भावना पाई जाती

है। हाँ इनके विनय-गीतोंमें गीति-भावना सहज रूपमें विद्यमान है और इस कथनकी पुष्टिके लिए हम सूरके विनय-पदों और तुलसीकी विनय पत्रिकाके गीतोंको देख सकते हैं। विनय-गीतिकी उत्कृष्ट भावना हमें इनमें खोलती हुई मिलती है।

हिन्दीकी भक्ति-धाराके अन्तर्गत शुद्ध गीति-भावना हमें कबीर, दादू आदि निर्गुण उपासकोंमें, मीराके काव्य तथा तुलसीकी विनयपत्रिकामें देखनेको मिलती है। निर्गुणियोंको स्वानुभूति तो उनकी साधनाका तत्व और केन्द्रबिन्दु है, और उन्होंने उसे अपने ही रूपमें बिना किसी रूपकका सहारा लिए व्यक्त किया है अतः निर्मलगीति-प्रवाह निर्गुणधाराके काव्यमें बहा है कबीर कहते :—

"मैं अपने साहब संग चली।
हाथमें नरियल मुखमें बीड़ा, मोतियन माग भरी॥
लिली घोड़ी जरद बछेड़ी तापै चढ़ि के चली।
नदी किनारे सतगुरु भेंटे तुरत जनम सुधरी।
कहैं कबीर सुनो भइ साधो, दोउ कुल तारि चली।"

इस पदमें जो कुछ भी वर्णन है, कबीरने स्वानुभूत रूपमें किया है, किसी अन्य प्रसङ्गको न लेकर अपने आपको उस अवस्थामें डालकर कबीरने आत्मिक-अनुभूतको व्यक्त किया है। गेय है ही, अतः गीति-भावना का शुद्ध रूप है। निर्गुण सम्प्रदायके अन्य कवियों—दादू, नानक, धना, पीपा, बुल्ला, दरिया, मलूक आदिमें भी हमें इसी प्रकारके उद्‌गार देखनेको मिलते हैं, पर इनमें काव्य-सौन्दर्य और अनुभूतिकी वह स्वाभाविक तीव्रता नहीं मिलती, जो हमें मीराके पदोंमें प्राप्त होती है, मीराको भक्तिकालीन गीतिकारोंमें बड़ा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उनकी गीतियोंमें, प्रेम-भावना हो, चाहे विरह, दोनोंके ही वर्णनमें जिस सत्यानुभूतिके दर्शन हमें होते हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। मीराका एक पद देखिए:—

"आली री मेरे नैणां बान पड़ी।
चित चढ़ी मोरे माधुरी मूरति उर बिच आनि अड़ी।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी॥

कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ जीवन मूरि जड़ी।
"मीरा" गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगड़ी॥"

मीराकी कृष्ण सम्बन्धी विरहानुभूति बड़ी तीव्र है। भक्तकी स्वाभाविक भक्तिके साथ-साथ "गीति" का निर्मल धवल स्रोत मीराके पदोंमें बहता हुआ मिलता है। तुलसीकी विनयपत्रिकामें सेवक-सेव्य भावका प्रकाशन है। पर मीराकी भक्ति, माधुर्य भावकी है, यही अन्तर है। इस रूपमें मीराका दरजा तुलसीके ही समान है। सगुणोपासक कवियोंमें तुलसीकी विनयपत्रिका शुद्ध गीति-भावना का उत्कृष्ट नमूना है। भावकी तीव्रता, सत्यता और सघनता तुलसी और मीरामें एक है, पर आलम्बनके भावमें अन्तर है। मीराका एक पद देखिए:—

"नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहब पाऊँ।
इन नैनन मेरा साहब बसता, डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महलमें बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री॥
सुन्न महलमें सुरत जमाऊँ, सुखकी सेज बिछाऊँ री।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ री॥"

इस पदसे प्रकट है कि मीरामें कृष्ण-भक्त सगुणोपासकोंका और निर्गुण साधनाका पूरा प्रभाव था। निर्गुणियोंकी आध्यात्मिक ऊँचाई, और कृष्ण-भक्तिकी सरस माधुरी, दोनोंका ही सुखद सम्मिश्रण मीरामें हुआ है।

तुलसीकी गीति-भावनामें दास्य भावकी उपासना है, पर यदि प्राचीन-कालमें अकेला कोई हिन्दी-ग्रन्थ शुद्ध गीति-भावनाको लेकर लिखा गया कहा जा सकता है, तो वह "विनयपत्रिका" है। आत्म-समर्पणकी कितनी सहज भावना नीचे लिखी पंक्तियोंमें व्यक्त हुई है--

"जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग केहि अति दीन पियारे।"

"गीति" के भक्ति सम्बन्धी ऊपर कहे गये रूपोंको छोड़कर अन्य लौकिक भावनाओंके अन्तर्गत, हिन्दीके पूर्वकालीन काव्योंमें, गीति-भावनाका प्रवेश नहीं हुआ। यत्र-तत्र रीति-कालीन काव्यमें (जैसे रसखान, घनानन्द, बोधा आलम, ठाकुर आदिकी कवितामें) हमें सहानुभूतिके दर्शन लौकिक प्रेमके

आश्रयमें मिलते हैं, पर उनमें भी छाया कृष्ण-भक्तिकी है। साथ-ही-साथ ऐसे उद्गार गीतोंके रूपमें कम प्रवाहित हुए हैं। किन्तु इन्हें हम प्रगीत-मुक्तकोंकी कोटिमें रख सकते हैं, क्योंकि कोमल भावका घनीभूत प्रकाशन, स्वानुभूति और संगीतात्मक मधुर शब्दावली हमें देखनेको मिलती है। रसखान, घनानन्द, ठाकुर बोधाके काव्यमें अधिकांश प्रगीतात्मकता है। घनानन्दका नीचे लिखा छन्द इसका सुन्दर उदाहरण है—

"सूने परे दृग मौन सुजान जे वे बदुरे कब आय बसाय हो।
सोच नहीं सुरभयो रिय जो हिय सो सुख सींचउ देव नसाय हो॥
हाय दई 'घनआनँद' है करि कौलौं वियोगके दाह दगाय हो।
एहो हँसी जिन जानो इहा हमैं लाय कहाँ अब काढ़ि नसाय हो॥"

इसमें प्रेम प्रगीतका सुन्दर रूप है, इन स्वच्छन्द कवियों और भक्तोंके उद्गारोंको छोड़कर गीति-भावनाके विविधरूप हमें पूर्व कालीन हिन्दी-काव्य में नहीं मिलते। इनके कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि पूर्वकालीन काव्यमें कवि अपनी लौकिक भावनाओं और कार्योंके विषयमें मौन रहता था, कोई भी कवि हमें ऐसा नहीं मिलता, जिसने अपना पूरा परिचय कहीं भी दिया हो। अपने विषयमें अधिक कहना भारतीय कवि पद्धतिके अनुसार शालीनताके विरुद्ध बात समझी जाती थी। अतः ऐसी दशामें कवि अपनी लौकिक भावनाओं और अनुभूतियोंको अपना कहकर कैसे गा सकता था! अतः गीति-भावनाकी मूल स्वच्छन्दता उस समय न थी। कवि एक निरीक्षक और द्रष्टाके रूपमें वर्णन करता था। इस बातका एक सुपरिणाम यह हुआ कि शुद्ध प्रबन्ध-काव्य हमें मिल जाते हैं। इसके विरुद्ध आधुनिक युगमें गीत-भावनाको पूरी स्वच्छन्दता मिलने पर प्रबन्ध-काव्यों और वस्तुवर्णनको बड़ा धक्का सा लगा है। पर गीति-काव्य खूब उमड़ा है।

आधुनिक-युगमें गीति-भावनाके प्रबल प्रवाहके प्रमुख कारण हैं—परम्परा त्याग और स्वच्छन्दता, अंग्रेजी गीति-काव्यका सम्पर्क, प्रकृति-प्रेम अभाव या असन्तोष की भावना आदि। भारतेन्दु-युगमें कविके विषयोंमें बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। गीति-काव्यको बल देनेवाली भक्ति और प्रेम भावनायें जहाँ पर थीं, वैसी ही रहीं, वहीं देश-प्रेमकी नवीन भावना जाग्रत

हुई। जिनके अन्तर्गत आगे चलकर अनेक नाटक, प्रबन्ध-काव्य, उपन्यास आदि लिखे गये; साथ ही-साथ इसने गीति-भावनाको भी प्रेरित किया। देश-प्रेमको लेकर लिखी गई बहुसंख्यक रचनाएँ भारतेन्दु-युगमें विद्यमान हैं, जिनमें शुद्ध गीति-भावना हिलोरें लेती है। प्राचीन गौरव और आधुनिक दुर्दशाके चित्र विवशताका सञ्चार करते हैं और निरवलम्बताकी दशामें कवि देशोद्धारके लिए ईश्वरसे प्रार्थना भी करते हैं। यह विवशता और निराशाकी भावना देशगत होते हुए भी कविकी व्यक्तिगत भावनाके रूपमें प्रकट हुई है। भारतेन्दुजीकी निराशा नीचे लिखे छन्दमें व्यक्त हुई है।

"कहाँ परीछित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज।
नन्दवंश कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय! कहाँ वह ओज॥
काल विवश जो गए नृपति वे तो क्यों उनके बालक।
भए न उनके सम काको अजा उपजे कुल घालक॥
हा! कबहुँ वह दिन फिर ऐहैं वह समृद्धि वह सोभा।
कै अब तरसि-तरसि मसुसि कै दिन जैहैं सब छोभा॥"

भारत-दुर्दशाका नीचे लिखा वर्णन कितना हृदय-द्रावक है :—

"जहँ शक्य भए हरिचन्द नहुष ययाती, जहँ राम युधिष्ठिर वासुदेव शर्याती॥
जहँ भीम करन अर्जुनकी छटा दिखाती, तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥
अब जहँ देखहु तहँ दुःख ही दुःख दिखाई, हाहा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

केवल भारतेन्दु हीकी नहीं, यह भावना समकालीन अनेक कवियोंकी थी। प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, बद्रीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन' राधाचरन गोस्वामी और श्रीधर पाठक आदिने देश-प्रेमकी भावनाको व्यक्तिगत बनाकर अपने गीत लिखे हैं। राधाचरण गोस्वामी इस दरिद्र भारतके उद्धारकी ईश्वरसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं :—

"प्रभु हो पुनि भूतल अवतरिए।
अपने या प्यारे भारतके पुनि दुख दारिद हरिए।
महा अविद्या राक्षसने या देशहिं बहुत सतायो।
साहस पुरुषारथ उद्यम धन सब हो बिधिन गवाँयो॥

जो कोऊ हितकी बात कहत तौ कौरै सब ही मारी।
धरम-बहिरमुख मूरख नास्तिक कहि-कहि देवैं गारी॥"

इन्हें हम जागरण-गीति कह सकते हैं। इनमें ईश्वरको जगानेके बाद देश को जगानेका भाव आया और फिर नौजवान, किसान-मजदूर आदिको जगाने-का भाव इसी देश-प्रेमको लेकर चलनेवाली धाराके भीतर उमड़ा है, जो अधिकांश प्रगतिशील काव्यके अन्तर्गत रक्खा जाता है। 'दिनकर'की हिमालयके प्रति कविता भी इसी भावनासे ओत-प्रोत है, पर प्रगीतात्मकताका भाव इसमें पूर्वकालीन कवियोंकी अपेक्षा अधिक गम्भीरता, कला एवं सौन्दर्य-के साथ व्यक्त हुआ है। कुछ पंक्तियाँ इसे सिद्ध करेंगी।

"मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट! तू पूछ अवधसे, राम कहाँ!
पौरुषके पुंजीभूत ज्वाल! वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ!
मेरी जननीके हिम किरीट! ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक!
मेरे भारतके दिव्य भाल! वह चंद्रगुप्त बलधाम कहाँ!"

यहाँ तक तो पूर्ववर्ती भावनाका ही मेल है, पर आगेकी पंक्तियोंमें ! भावनाकी सघन तीव्रता, पुंजीभूत साहस और आकुल क्रियाशीलताको ले-कर कवि कहता है—

"ले अंगड़ाई उठ, हिले धरा तू मौन त्याग, कर सिंहनाद।
कर निज विराट स्वरमें निनाद रे तपी! आज तपका न काल।
तू शैलराट्! हुंकार भरे नवयुग शङ्ख ध्वनि जगा रही।
फट जाय कुहा भागे प्रमाद! तू जाग-जाग मेरे विशाल!
मेरी जननीके हिम किरीट! मेरे भारतके दिव्य भाल!
नव युग शङ्खध्वनि जगा रही जागो नगपति! जागो विशाल!"

"जागरण" की भावनाके अन्तर्गत प्रगीतात्मकता नरेन्द्रकी 'प्रभात फेरी' कवितामें भी इसी प्रकार अन्तर्निहित है। 'बन्दी' को भारतीय मानवता मान कर कवि उसे मुक्त करनेका भार अपने ऊपर लेता हुआ कहता है—

"आओ हृदयनिधि रखता हूँ; जागो रे मन चिर बन्दी।
इन निर्जीव शून्य श्वासोंमें, प्राण फूँक दूँ जो नवजीवन

भर दूँ :
मलय-वाहिनी हो, स्वतन्त्र हो तेरी साँसें बन्दी।"
जागो, पहचानो अपनेको मानव हो समझो निज गौरव
अन्तस्तलकी आँखें खोलो देखो निज अतुलित बलवैभव,
अहंकार औ, स्वाधिकार, दो पृथक् पृथक् पथ हैं बन्दी॥"

इन जागरण गीतोंमें प्रायः कविका 'आवेश' व्यक्त हुआ है। वह व्यग्र है और शीघ्र ही ऐसा परिवर्तन, ऐसी क्रान्ति चाहता है, जिससे समस्त परवशता और दासता दूर हो जाय और मानव स्वच्छन्द हो अपने अधिकार प्राप्त कर सकें। इसी क्रान्तिको जगाता हुआ 'अंचल' का कवि गा उठता है—

"भूखे ये भूचाल युगोंके भूखे ये तूफान भयंकर।
भूखी हैं सर्वनाशकी ये तस्वीरें जो अकुलाती घर घर।
एक तुम्हारी आहट पाते ही औ आग भरी लासानी।
धू-धू धुमते दीप भभक घर घरमें फूँकेंगे कुरबानी।
जागो अब तो धधक उठे लूसे ये खेत लुटी हरियाली।
कबसे ये मजलूम बुलाते औ जलते अंगारों वाली।
पाक करो यह सृष्टि दानवोंसे जिनने यह अनय मचाया।
कबसे तुम पड़ी खेतोंमें जागो इंकिलाब फिर आया।"

इस क्रान्तिकी जागरण प्रेरणाको फूँकनेवाला कवि स्वयं है। भावका सीधा कविसे सम्बन्ध है; कथा या प्रसङ्गकी आड़ नहीं है। अतः गीति-भावनाकी धारा प्रधान है। इस प्रकारकी भावनाको लेकर आधुनिककालमें अनेक गीतियाँ लिखी गई हैं। प्रमुख कवि श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, निराला, माखन-लाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, द्विवेदी, नरेन्द्र, दिनकर, अंचल और सुमन आदि हैं। गुप्त, प्रसाद और पन्तमें यह भावना आवेशको लेकर चलनेवाला नहीं, वरन् सांस्कृतिक रूप ग्रहण करती है।

अंग्रेजीके कवियोंमें विशेष रूपसे वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शेली आदिकी रच-नाओंके प्रभावसे आधुनिककालीन गीति भावनाको बड़ा बल मिला। विशेष-कर छायावादी कवियोंका पथ तो इन्हींके प्रकाशसे प्रशस्त हुआ, पर हम यह नहीं कह सकते, कि छायावादी काव्य अपने सम्पूर्ण रूप और विकासमें इनसे

भिन्न नहीं है। इस कालकी अपनी विशेषता है। जिसकी शैली और स्वच्छ-न्दताको प्रेरणा अंग्रेजी काव्यसे मिली है, पर भाव एवं संस्कृतिकी धारा अधिकांश अपनी है। इस प्रभावके फलस्वरूप मानव एवं प्रकृति-प्रेमने सम्मिलित गीतियोंका विकास देखनेको मिलता है।

प्रेम गीतिके अन्तर्गत मानव, नारी एवं देशके प्रति प्रेमकी भावना प्रकट हुई है। मानव प्रेमका रूप आगे चलकर श्रमिकों एवं पीड़ितोंके प्रति सहानु-भूतिका रूप धारण करता हुआ दिखलाई देता है। कृषकों, मजदूरों भिखा-रियोंके प्रति लिखे गए काव्य इसीके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इस प्रकारकी गीतियाँ निरालाके "भिक्षुक", "विधवा", नवीनके "जूठे पत्ते" आदि हैं। इस प्रकारकी कविताओंमें व्यक्तिगत भावना तो है, पर गेयत्वकी मात्रा अधिक नहीं। साथ ही साथ मानव-प्रेमके रूपमें अधिक न होकर सहानुभूति-के रूपमें ही रचनाएँ विशेष हैं। अतः इन्हें करुण—गीत कहा जाय तो विशेष उपयुक्त होगा।

देश-प्रेमका रूप ऊपर दिया जा चुका है। नारी-प्रेम स्वच्छन्दतावाद विशेष देन है। नारीके सौन्दर्य और प्रेमका चित्रण पूर्वकालीन काव्यमें हुआ है अवश्य, पर उसमें प्रगीतात्मकता नहीं आ पाई। प्रगीतात्मकता आधुनिक युगकी विशेषता है और नारी-प्रेमका स्वच्छन्द प्रगीतात्मक चित्रण अधिकांश अंग्रेजी-साहित्यके प्रभावके कारण ही हुआ है। प्रेमगीतके अन्तर्गत, प्रेमके सम्बन्धित करके भी लिखा गया है। साथ ही साथ नारी-पुरुषकी पारस्परिक प्रेम-भावनाका भी सुन्दर एवं मधुमय वर्णन हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूपसे आनेवाले कवि—प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, भगवतीचरण वर्मा नेपाली, अंचल, नरेन्द्र, दिनकर और बच्चन आदि हैं। इस भावनाको लेकर तो अधिकांश आधुनिक युगका गीति-काव्य निर्मित हुआ है। अतः ऐसे गीतिकार मिलना कठिन है, जिन्होंने इसे बिलकुल ही न ग्रहण किया हो। पर प्रमुख रूपसे प्रतिनिधि कवि उपर्युक्त ही हैं।

...ी-रूप' से अपना अगाध प्रेम स्पष्ट करते हुए पन्तने लिखा है :—

"स्नेहमयि, सुन्दरतामयि !
...ारे रोम-रोमसे नारि, मुझे है स्नेह अपार।

तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि, मुझे है स्वर्गागार ॥
तुम्हीं इच्छाओंका अवसान, तुम्हीं स्वर्गिक आभास ।
तुम्हारी सेवामें अनजान, हृदय है मेरा अन्तर्धान ॥
देवि ! मा ! सहचरि प्राण !!"

नारीका पावन व्यक्तित्व, अपूर्व आकर्षण एवं प्रेरणा से पूर्ण है—पल्लव जिनका विशेषण पन्तने निम्नलिखित पंक्तियोंमें किया है, गीतिकी ये पंक्तियाँ विषय और व्यक्ति दोनों पर प्रकाश डालनेवाली हैं—

"तुम्हारे छूनेमें था प्राण, संगमें पावन गंगा स्नान ।
तुम्हारी वाणीमें कल्याण, त्रिवेणीकी लहरोंका गान" ॥

नारीके सौन्दर्य, स्वभाव, कोमलता, करुणा, शान्ति, सहनशीलता आदि गुणोंकी ओर संकेत करते हुए प्रेमकी अभिव्यक्ति आधुनिक कवियोंमें हुई है पर विशेष रूपसे सौन्दर्यने ही उन्हें आकृष्ट किया है ।

प्रेम सम्बन्धी समस्त भावनाओंको प्रकाशन देनेके लिए आधुनिक कवियों ने प्रकृतिको माध्यम बनाया है। स्थूल सौन्दर्य-चित्रण एवं सामान्य भावनाओं को छोड़ सूक्ष्मताकी ओर जानेके प्रयासमें कविने प्रकृति सजीव एवं भाव-सम्पन्न रूपमें चित्रित किया है । अतः प्रकृति प्रेमका प्रकाशन, प्रेमके प्रतीक रूपमें और स्वतंत्र आलम्बन रूपमें दोनों प्रकारसे किया गया है । प्रकृति-चित्रणमें गीति भावनाका समावेश अधिकाश कवियोंमें देखनेको मिलता है, पर प्रमुख रूपसे प्रकृतिसे आत्मभाव जोड़नेवाले कवि हैं-प्रसाद, महादेवी, पन्त, नरेन्द्र और नेपाली । साधारणतया प्रकृतिके रूपपर तन्मय होनेवाले कवि पन्त और नेपाली हैं, इन्होंने अपनी भावनाको प्रकृति सम्पृक्त-सा कर दिया है, उसके सौन्दर्यपर रीझकर वे आत्म विभोर हो जाते हैं । पन्तको प्रकृति स्नेहमयी लगती है, और उसके रूपमें वे घुल मिल जाना चाहते हैं । इतना ही नहीं, वे उससे प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं । प्रकृतिका रूप इतना लुभावना है कि वह वासना और संस्कार बनकर भीतर प्रवेश कर चुका है, और नारीरूपके लिये भी वे प्रकृतिको छोड़नेके लिये तैयार नहीं हैं ।

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृतिसे भी माया
बाले ! तेरे बाल-जालमें कैसे उलझा दूँ लोचन !

तजकर तरल तरंगोंको, इन्द्र धनुषके रंगों को,
तेरे भ्रू भंगोंसे कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन !"

नैपालीका प्रकृतिके प्रति आकर्षण, पन्तकी भाँति पवित्र नहीं, वरन् मादक है। वे उसके भीतर व्याप्त सजीवताके दर्शन कण-कणमें करते हैं। 'भोर'का वर्णन करते हुये वे कहते हैं—

"हँसकर डाल-डालमें फूल, फूलमें हँसते हो सुकुमार।
उड़ाकर काले काले भृंग, बसाते फूलोंका संसार॥
भृंगका रूप तुम्हारी सूझ, फूलके रंग तुम्हारे खेल।
खिलाकर फूल उड़ाकर धूल, मिलाते तुम जीवनका मेल॥
झुरमुटोंमें छिपकर चुपचाप, हिलाते तुम प्राणोंके पात।
मारकर तुम किरणोंके बान, खिलाते नयनोंके जलजात॥"

नैपालीका व्यक्तित्व प्रायः अपने 'विषय'से मिलकर एक हो जाता है, वर्ण्य और कविमें कोई अन्तर नहीं दीखता।

प्रसाद, निराला और महादेवीका प्रकृति-प्रेम दार्शनिक और परंपरागत आधार लिए जान पड़ता है और प्रकृतिके माध्यमसे ये एक अलौकिक व्यक्तित्वके दर्शन करते हैं। प्रकृतिके भीतर जो भी स्पन्दन, क्रिया-कलाप, व्यापार हैं, वे सभी इनके लिए कुछ न कुछ संकेत और व्यंग-भरे हैं, निराला का प्रकृति-चित्रण परम्परागत उद्दीपनके रूपमें विशेष है। जहाँ प्रकृति सुखद एवं दुःखद मानव-भावनाओंको, सजग, सचेत अथवा प्रज्ज्वलित करती है। 'गीतिका'के एक पदमें यह बात स्पष्ट है—

"बह चली अब अलि, शिशिर समीर। काँपी भीरु मृणाल-वृन्त पर।
नील कमलकी कलिकाएँ थर-थर प्रात-अरुणको करुण अश्रुभर॥"
लख तो अहा ! अधीर !
वन देवीके हृदय-हारसे, हीरक झरते हरसिंगारके।
बेध गया उर किरण-तारके, विरह रागका तीर॥
विरह-परी सी खड़ी कामिनी, व्यर्थ बह गई शिशिर-यामनी।
प्रियके गृहकी स्वाभिमानिनी नयनोंमें भर नीर॥"

निरालाके अधिकांश गीतोंमें गेयत्व और कवित्व अधिक है; पर स्वानु-

ूतिका सीधा प्रकाशन कम है और यह भी भारतीय-परम्पराका प्रभाव है
। इनके वर्णनमें तीव्रता है, प्रकृति ऋतु-सुलभ प्रभाव और स्वरूपका बड़
टकीला चित्रण और हृदयहारी विशेषण है, पर वह वर्णन शुद्ध, आत्मानु
ूति रूपमें कम है। एक दूसरा गीत देखिए: —

"फूली री यह डाल, बसन बासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक, हीरक-सी समीर माला जप
शैल सुता अपर्ण-अशना पल्लव वसना बनेगी—वसन बासन्ती लेगी"

प्रसादजी प्रकृतिके भीतर मानव-भावनाओंका अन्तर्नाद सुननेवाले कवि
हैं। भावनाओंको प्रकाशन देनेका माध्यम प्रकृति है, उसीके भीतरसे ही
उसीकी लीला और व्यापारोंमें ही वे आभ्यन्तर भावनाओंका इंगित प्रा
करते हैं। झरना और लहर आदि रचनाएँ इसी प्रकार हैं। प्रकृतिके स्वरू
मनुष्यकी अन्तर्वृत्तियोंके प्रतीक प्रसादजीके चित्रणोंमें मिलते हैं। भावना
की प्रतीक 'लहर'को सम्बोधित करते हुए उन्होंने लिखा है।

"उठ उठ री लघु लोल लहर।
करुणाकी नव अँगड़ाई-सी, मलयानलकी परछाँई-सी,
इस सूखे तट पर छिटक छहर।
तू भूल न री पंकज वनमें जीवनके इस सूनेपनमें।
ओ प्यार पुलकसे भरी ढुलक, आ चूम पुलिनके विरस अधर।"

गीतिभावना प्रसादजीमें पूर्णतया विद्यमान है। पर इनके वर्णन
व्यापकता और उच्चता अधिक है, सघनता और तीव्रता उतनी नहीं। प्रकृ
के साथ सघनता एवं तीव्रताकी भावना महादेवी वर्मामें सबसे अधिक है
जिस प्रकार भक्तिकालीन गीतिकारोंमें मीराका प्रधान स्थान है, उसी प्रक
आधुनिक गीतिकारोंमें महादेवीका। उनके लिए प्रकृति बड़ी ही सजीव जा
रूक और अनुभूतिसंकुल है।

प्रकृतिको सचेतन रूपमें देखनेवाले कवियोंमेंसे प्रमुख पन्त और म
देवी हैं। पर महादेवीजीकी भावना अधिक तीव्र और मधुर है। गेयत्व
इनमें अधिक है। इनमें आधुनिक गीति-काव्य एक कलात्मक पूर्णताको प्र
हुआ है। जैसी सुन्दर और मधुर कलापीठिकाएँ इनकी रचनाओंमें मिलती

वैसी अन्तर नहीं। हाँ मीराकी भाँति ही इसमें भी बहनेवाली धारा एक है—प्रियकी विरहानुभूति। यह अनुभूति प्रकृतिके माध्यमसे बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति पा सकी है। एक गीति देखिए:—

"पुलक-पुलक उर सिहर-सिहर तन, आज नयन क्यों आते भर-भर!
सकुच सलज खिलती शेफाली, अलस मौलश्री डाली डाली॥
बुनते नव प्रवाल कुंजों में, रजत श्याम तारों से जाली।
शिथिल मधु पवन गिन गिन मधुकण हरसिंगार झरते हैं झर झर!
पिक की मधुमय बंशी बोली नाच उठी सुन अलिनी भोली।
अरुण सजल पाटल बरसाता तमपर मृदु पराग की रोली॥
शुभ विद्युत बन आओ पाहुन! मेरी पलकोंमें पग धर-धर!"

इस प्रकार स्वानुभूति और वैदग्ध्य दोनोंका मधुर सम्मिश्रण हमें महादेवी वर्माके काव्यमें मिलता है। प्रकृति उन्हें प्रेरणा देती है, वही प्रियका संकेत करती है और उसीसे वे पूछती भी हैं:—

"मुसकाता संकेत भरा नभ अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं!
मोती बिखरातीं नूपुरके छिप तारक परियाँ नर्तन कर॥
हिमकणपर आता जाता मलयानिल परिमलसे अंजलि भर।
भ्रान्त पथिकसे फिर आते विस्मित पल क्षण मतवाले हैं॥
नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कैसी उलझन!
रोम रोममें होता री सखि! एक नया उरका-सा स्पन्दन।
पुलकोंसे भर फूल बनगए, जितने प्राणोंके छाले हैं॥"

इस प्रकार प्रकृति और अपनेमें एक आन्तरिक आनुभूतिक साम्य विशेषता महादेवीजीके गीति-काव्यमें मिलती है।

इस प्रकार कलागीतिके अन्तर्गत शुद्धगीति और प्रगीत तथा उनके प्रेम गीति, करुणगीति, जागरण-गीति, सम्बोधगीति आदि भेद-प्रभेद देखे जा सकते हैं।

किन्तु गीतिकाव्यका विवरण पूरा न होगा, यदि उसमें ग्रामगीतिका उल्लेख न किया जाय। यहाँ ग्रामगीतिमें भी वही विशेषताएँ अपेक्षित हैं, [illegible] इनके भीतर भी कविकी तीव्र स्वानुभूति, मधुर कोम

ा और संगीतात्मकता विद्यमान रहनी चाहिए। भेद-प्रभेद भी वही माने
सकते हैं। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जो सांस्कृतिक महत्त्व ग्राम-
तियोंका है, वह कलागीतियोंका नहीं, साथ-ही-साथ स्वाभाविकता, तीव्रता,
नता और गहरे, पारदर्शी एवं हृदय द्रावक संकेतोंसे जितना ग्रामगीति
व्य ओत-प्रोत है, उतना कलागीतिकाव्य नहीं। घरेलू विश्वासों एवं गहरी
नुभूतियोंका सहज प्रकाशन ग्रामगीतिकी अपनी विभूति है। एक उदाहरण
खिए बेटीकी विदाका प्रसंग है। ससुराल जाते समय अपने मायकेके लोगोंके
वोंका संकेत वह किस मार्मिक ढंगसे करती है, यह देखते ही बनता है :-

"सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रँगायो अनमोल।
मायाने दीनों नौ मन सोनवाँ, कि दद्दुलीने लहर पटोर॥
मैयाने दीनों चदनकी घोड़िला भौजी मोतिनको हार। सावन०।
मायाके रोये ते नदिया बहति है दद्दुलोके रोये सागर पार।
भैयाके रोए पटुका भीजत है, भौजीके दुई दुई आँस।
सावन सेंदुरा माँग भरी बीरन, चुनरी रँगायो अनमोल॥"

पारिवारिक संस्कृतिकी विशेषताको लेकर चलनेवाली भावधारा इस गीतिमें
तनी गहरी है, उसके भीतर प्रतिध्वनित व्यंग्य भी उतना ही प्रखर। एक
हीं अनेक लोक-गीतियाँ इसी प्रकारकी विशेषताओंको लिए हुए हमारे गीति
व्यकी समृद्धि और वैभवको बढ़ाती हुई हमारी लोक संस्कृतिकी धाराको
ष्ट करती हैं।

हिन्दी गीति-काव्यके बने हुए प्रौढ रूप अभी उपर्युक्त साँचोंमें ही ढल
ए हैं। आजपूर्ण नवीन जागरणकी गीतियाँ भी उर्मियोंकी भाँति स्वतन्त्रता-
ाप्तिके बाद हिन्दी-काव्यसरोवरमें लहरा रही हैं, पर अभी उनको निश्चित
पसे ग्रहण करनेमें कुछ विलम्ब है। हिन्दी-गीतिकाव्यका भविष्य उज्ज्वल है।
जिस प्रकार अभी तक उसकी तीव्रता बढ़ती रही है, आशा है, उसी गतिसे
आगे विविधता और सघनता भी धारण करेगा; पर यह अवश्य है कि गीतिकी
स्वानुभूतिके लिए अनुभूतिकी साधना विशेष अधिक व्यापक और सामाजिक
हो सके, तो गीति काव्यका सामाजिक उत्थानमें महत्त्वपूर्ण योग हो सकता है।

४—रहस्यवाद-छायावाद

'रहस्य' का अर्थ है गुप्त-प्रच्छन्न-अज्ञात और जिसमें गुप्त, प्रच्छन्न और अज्ञात का उल्लेख है, वही 'रहस्यवाद' है। रहस्यको निराकरण करनेकी प्रवृत्ति मनुष्यमात्रमें प्रारम्भिककालसे रही है। 'दर्शन' की उत्पत्ति इसी जिज्ञासाका परिणाम है। उपनिषदोंमें उसी 'प्रच्छन्न' को देखनेका कुतूहल है। यह जगत क्या है?—मैं (आत्मा) क्या हूँ? 'आत्मा' और 'जगत' का सम्बन्ध क्या है? 'जगत' किसकी सृष्टि है? वह (सः) कौन है? 'सः' 'जगत' और 'आत्मा' के बीच क्या कोई 'शृंखला' है? ये प्रश्न हैं जो 'दर्शनों' में अनेक तर्क वितर्कमय उत्तरोंके पश्चात् भी प्रश्न ही बने हुए हैं। उनका निष्कर्ष है, यह, (सः) अनुभव किया जा सकता है—उसका वर्णन नहीं हो सकता। ईसाई दार्शनिक कहते हैं, "प्रेमिकाके उत्ताप भरे वक्षस्थलका जैसा कोई उन्मत्त प्रेमी आलिङ्गन करता है और उससे जो मीठा-मीठा कुछ भीतर ही भीतर घुरने लगता है। कुछ ऐसा ही 'उसके' सान्निध्यका अनुभव होता है"। बौद्ध इस प्रश्न पर मौन धारण कर लेता है, वेदान्ती 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहकर रुक जाता है, सूफी एक उर्दू कविके शब्दोंमें उसको प्रत्येक स्थल पर अनुभव करता है:—

"ज़ाहिद! शराब पीने दे मसजिदमें बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो"

वह अपनी सत्ताको उसीमें खो देता है।[1]

सूफी कवि रूमीने सूफी ध्येयको एक उदाहरण द्वारा बड़ी सुन्दरतासे समझाया है—

"किसीने प्रियतमके द्वारको खटखटाया। भीतरसे एक आवाज़ने पूछा—"तू कौन है?" उसने कहा—"मैं।" आवाज़ने कहा—"इस घरमें..."मैं और

---

१ "Sufi strives to lose humanity in beauty. Self annihilation is his watch word."

दो नहीं समा सकते।" दरवाजा नहीं खुला। व्यथित प्रेमी वनमें तप करने चला गया। साल भर कठिनाइयाँ सहकर वह लौटा और उसने फिर दरवाजा खटखटाया। उससे फिर प्रश्न हुआ—"तू कौन है?" प्रेमीने उत्तर दिया—"तू" दरवाजा खुल गया।[1]

'अद्वैतवादी' भी उसको अपनेहीमें देखता है। इसीसे वह कहता है—"सोऽहम्"—'मैं ही वह हूँ।' वह आत्मामें ही परमात्माको अधिष्ठित देखता है और जगतको 'मिथ्या' समझता है। उसका विश्वास है कि आत्मापर मायाका आवरण पड़ा[2] रहनेसे हम 'उसके' दर्शन नहीं कर पाते। आवरणको विदीर्ण कर ही हम पर उसकी आभाका प्रकाश पड़ता है और हम उसे अपनेमें अनुभव करने लगते हैं।

सूफी और अद्वैतवादी (निर्गुणवादी) दोनों ही जगतको मिथ्या मानते हैं, परन्तु सूफी जगतके 'रूप' में परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करता है। उसे वह परमात्माके विरहमें व्याकुल देखता है, इसीसे परमात्मा तक पहुँचनेके लिए वह भौतिक वस्तुके प्रति आसक्ति धारणकर प्रेमविभोर हो जाता है। उसका साधन प्रेम है, और साध्य भी प्रेम है।

द्वैतवादी (सगुणोपासक) आत्मा (जीव) को ब्रह्मसे पृथक मानता है। वह अद्वैतवादीकी तरह दोनोंको एक नहीं मानता। वह सायुज्य मुक्तिकी कामना भी नहीं करता। अपने आराध्यको अपलक आँखोंसे देखते रहने

---

१ सूफी कवि मलिकमुहम्मद जायसीने भी कहा है—
'हौं हौं कहत सबै मत खोई। जो तू नाहिं आहि सब कोई।'—'पद्मावत'

२ 'संसार अपनी ही कल्पना है, जैसी कल्पना होगी, वैसा ही यह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है।'—मैत्रेयी उपनिषद्।

"यह संसार जिस वस्तुका बना है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित संसार मनकी सृष्टि है। बाह्य, भौतिक संसार सब छाया मात्र रह गया है। संसार सम्बन्धी भ्रमके निवारणके लिए हमने जो प्रयास किए उनके परिणाम स्वरूप संसारका ही निवारण हो गया, क्योंकि हमने देख लिया कि सबसे संसार ही है।"—एडिंग्टन और जीन्स।

और उसका सान्निध्य शाश्वत बनाये रखनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मानता है।[1] उसे अपना 'आराध्य' ही सब कुछ है और उसके बिना 'सब' कुछ नहीं। वह धार्मिक ग्रन्थोंमें रक्षित स्वर्गकी कामना भी नहीं करता।

कुमारी अंडरहिल अपनी Essentas of Mysticism में लिखती हैं–We cannot honestly say that there is any wide difference between Brahmin, Sufi and Christian.

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न 'दर्शनों' के इस रहस्यको खोजनेका उद्देश्य क्या है? उसे जानकर उन्हें क्या प्राप्त होता है? इसका उत्तर केवल एक शब्दमें दिया जा सकता है। और वह है—'आनन्द'।[2]

सांसारिक संघर्षोंसे हटकर मनुष्य ऐसी स्थिति[3] में पहुँचना चाहता है, जहाँ केवल 'आनन्द' की ही वर्षा होती है। जीवनके विविध ताप (दुख) पिघलकर बह जाते हैं। उपनिषद्कार कहते हैं—

"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन। जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयान्त्यभि संविशन्ति।"

"यह सृष्टि आनन्दसे ही उत्पन्न हुई है, आनन्दको ओर ही इसकी गति है और आनन्दमें ही स्थिति...."

"दर्शन" की 'रहस्य' भावनाके 'काव्य' में किस रूपमें अपनाया गया है, इसे हमें समझ लेना चाहिये और यही समझकर हमें चलना चाहिये कि 'दर्शन' (Philosophy) काव्य नहीं है और यह भी कि काव्यमें दार्शनिक भाव व्यञ्जना होने पर भी वह (काव्य) 'दर्शन' नहीं बन जाता।

१—"कहा करौ बैकुंठ लै, कलप वृच्छ की छाँह।
'अहमद, ढाँक सराहिये, जो प्रीतम गल बाँह॥"—अहमद

२—को जानै को जैहै जमपुर को, सुर पुर धामको।
तुलसी बहुत भलो लागत जगजीवन राम गुलामको।,—तुलसी (विनय-पत्रिका)

३—रहस्यवाद भी एक मानसिक स्थिति ही है। हर्जियनने अपने एक ग्रन्थमें लिखा है—"Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere, rather than a system of philosophy."

'दर्शन' तर्क और ज्ञानसे 'रहस्य' को समझनेका आग्रह करता है, काव्य 'उसे' अपनेमें आच्छादित कर लेनेकी व्याकुलता प्रकट करता है। दर्शन 'चिन्तन' है, विचार है; कविता अनुभूति है भाव है। 'दर्शन' उसे दूर रखकर खुली आँखोंसे देखनेकी चेष्टा करता है, काव्य उसे अपनेहीमें उतारकर निमीलित नेत्रोंसे उसका दर्शन करता है। जहाँ 'रहस्य' के प्रति हमारा 'राग' जाग उठता है, हम 'उसको' और अपनेको भूलकर खिंचने लगते हैं, वहीं 'काव्य' की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। रहस्यकी ओर खिंचाव-आकर्षणही रहस्यवादी काव्यको जन्म देता है। "रहस्य" जैसा कि अभी तकके विवेचनसे स्पष्ट है, उस 'परोक्ष' सत्ताको कहते हैं जो, हमारी पार्थिव आँखोंके ओझल है, परे है! उसीको अनुभव करने, पहचाननेकी ललक, चाह, रहस्यवादी काव्यमें दीख पड़ती है। अपनी प्रवृत्ति और विश्वास भावनाके अनुसार एक रहस्यवादी जगत्‌में परोक्ष सत्ताका आभास पाकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर हर्ष पुलकसे भर जाता है, दूसरे जगतको असत्य मान उससे विरक्त हो अपने भीतर ही उस समयके दर्शनकर आत्म-विभोर हो जाता है।[१] इस प्रकारके द्रष्टाको आत्मवादी या व्यक्तिवादी भी कह सकते हैं, तीसरा किसी व्यक्तिहीको 'उसका' प्रतीक मान उसमें अपनी भावनाओंको केन्द्रित कर उसीका सान्निध्य चाहता है।

इस प्रकार रहस्यवादी अपनी आत्माके चेतनको झाँकनेके लिए उन्मुख होता है, स्थूल प्रकृतिमें समष्टिरूपसे चेतनताका आरोपकर उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और उसे अपना ही अंश अनुभव करने लगता है। और वह व्यष्टिमें परोक्ष चेतनका आरोपकर भी आत्मविस्मृत हो जाता है। प्रत्येक रहस्यवादीके लिए आकर्षणके आधारका एक होना आवश्यक नहीं; पर उस आधारमें उस रहस्यमयी परोक्ष सत्ताकी अनुभूतिमें सबका एक होना निश्चय ही आवश्यक है।

जो प्रकृतिके किसी सीमित स्थूल सौन्दर्य पर ही अपनी राग रंजित आँखें बिछा देते हैं, वे मधुरतम श्रेष्ठ कवि हो सकते हैं, पर 'रहस्यवादी' कवि नहीं।

---

१ "गगन मण्डलके बीचमें, जहाँ सोहंगम डोरि।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि॥"—कबीर

'वर्तमान हिन्दी कविता' में 'रहस्यवाद' की संज्ञा 'प्रसाद'जीके शब्दोंमें है—"अर्थात् अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (जगत्) में समन्वय करनेका सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युगकी वेदनाके अनुकूल मिलनका साधन बनकर इसमें सम्मिलित है।"

इस तरहके रहस्यवादको सूफी भावनाके अन्तर्गत ले सकते हैं, जिसमें 'ससीम' में 'असीम' का आरोप किया जाता है। विरह वेदना सूफी काव्यकी आत्मा है।

अपनी भावनाओंको स्थूल (सीमा) पर आधारित कर भी यदि किसी रचनामें कविका लक्ष्य 'परोक्ष' के प्रति नहीं है, तो हम उसे 'रहस्यवादी' काव्य नहीं कहेंगे। अब प्रश्न उठता है—क्या रहस्यवादी काव्यका आलम्बन सीधा 'परोक्षसत्ता' हो सकता है? इस सम्बन्धमें स्व० पं० रामचन्द्र शुक्लका मन्तव्य विचारणीय है—"हृदयका अव्यक्त और अगोचरसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर हीके प्रति होगा। प्रतिबिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादोंका सहारा लेकर इन भावोंको अव्यक्त और अगोचरके प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप विधानको ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ताकी अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्रमें एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।" आचार्य, हृदयके रागका 'अव्यक्त' आलम्बन स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—"उपासना जब होगी तब 'व्यक्त' और 'सगुण' की ही होगी; 'अव्यक्त' और 'निर्गुण' की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेषका द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेषका नहीं।"

ऊपर हमने निर्गुण, सूफी और सगुण रहस्यवादियोंकी चर्चा की है। इन तीन वादियोंमें व्यावहारिक दृष्टिसे सूफी और सगुणवादियोंमें अन्तर नहीं है। दोनों अपने हृदयके रागको 'व्यक्त' पर ही आधारित करते हैं। अब रह गए निर्गुणवादी, अद्वैतवादी। वे भी अपनी हृदय-भावनाको एकदम व्यक्त नहीं जमाते। उन्हें लौकिक प्रतीक ढूँढ़ने ही पड़ते हैं। कबीर कहते हैं—

"हरि मेरो पिउ हम हरिकी बहुरिया।"

अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए आत्मवादीको भी अपनेसे बाहर देखना पड़ता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्यमें रहस्य-भावना सर्वथा अद्वैत-

लक्षित नहीं रहती। अभिव्यक्तिके लिए उसे 'व्यक्त' का आधार ग्रहण करना पड़ता है, जो कि प्रतीकात्मक हो सकता है। रहस्यवादी रचनाको पहचाननेके लिए हमें कविकी मूल भावनाकी तहमें जाना आवश्यक होता है। केवल अनन्त अन्तरिक्ष, क्षितिज असीम आदि शब्दोंको देखकर ही उसे रहस्या-वलम्बी नहीं मान लेना चाहिए। कभी-कभी मनुष्य 'इस अवनी' के 'कोला-हल' से ऊब कर भी मनकी ऐसी अवस्था चाहता है, जो सांसारिक सुख-दुःखोंसे परे हो जाय। 'प्रसाद' ने "ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे-धीरे।"—('लहर') ऐसी कामना की है। उन्होंने ऐसे लोकमें जाना चाहा है, जहाँ एकान्त हो और कानोंमें निश्छल प्रेमका संगीत झरता हो, जिसमें विभोर हो, जीवन अपनी सांसारिक क्लांति को खो सके। इस माया-मय चञ्चल विश्वमें 'उसी' का ऐश्वर्य व्यापक रूपसे छाया हुआ दीख पड़े, जिससे सुख-दुःख दोनों समान समझ पड़ें—दोनों ही 'सत्य' जान पड़ें। हम दोनोंसे समान सुख अनुभव कर सकें। ऐसे लोकमें श्रम और विश्राममें निरोध न हो, वहाँ किसीका जीवन केवल 'श्रम-ही-श्रम' न हो और न कोई केवल 'विश्राम' ही का सुख लूटता हो। और वह लोक ऐसा हो जहाँ जागृति हीका सतत प्रकाश फैलता रहता हो।

इस रचनामें कविकी अदृष्ट लोककी (चाहे वह मानसिक ही हो) कल्पना मिलती है। हम ऐसा कहीं संकेत नहीं पाते कि कविको वह लोक मिल गया है—वह अपनी 'साधना' से वहाँ पहुँच गया है। परन्तु 'लहर' में प्रकाशित 'उस दिन जब जीवनके पथमें' शीर्षक रचनासे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कविने अन्तर्मुख होकर वह रहस्य जान लिया है। जब साधक अपने हीमें अनन्त रसका सागर लहराता हुआ अनुभव करता है, तब वह मधु भिक्षाकी रटन अधरमें लेकर घर घर भटकनेको आवश्यकता नहीं समझता। पर कविकी यह भावना [illegible] अन्तरके रसमें भीगे रहनेकी प्रवृत्ति क्या स्थायी है? [illegible] कोई 'सत्य' किसीको मिल जाता है और उसपर [illegible] तो वह फिर उसीमें अपनेको [illegible] करता है। परन्तु [illegible] क्षणिक लहर हो

लक्षणा और व्यञ्जना शक्तिसे अधिक काम लिया जाता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दोंमें 'छायावाद' का सामान्यतः अर्थ हुआ 'प्रस्तुतके स्थान पर उसकी व्यञ्जना करनेवाली छायाके रूपमें अप्रस्तुतका कथन।' 'छायावाद' ही प्रतीक पद्धति या चित्र भाषा शैली भी कहलाती है।

'प्रसाद' भी छायावाद' को काव्यकी एक अभिव्यक्ति विशेष ही मानते हैं। वे लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टिसे अनुभूति और अभिव्यक्तिकी भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रताके साथ स्वानुभूतिकी विवृति छायावादकी विशेषतायें हैं। अपने भीतरसे मोतीकी तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमय होती है।'

'प्रसाद' तथा कतिपय अन्य समीचक 'छायावाद' को काव्य की एक शैली तो मानते हैं, पर उस शैलीके निश्चित तत्त्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदयसे स्वभावतः झरनेवाले भावोंकी अभिव्यक्ति मात्रको ही 'छायावाद' के अन्तर्गत नहीं मानते। प्रत्युत अभिव्यक्तिमें, वक्रता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं; पर पं० केशवप्रसाद मिश्र की राय है कि 'छायावाद' को रचनाके लिए "हृदय मे केवल वेदना ही चाहिए, वह स्वयं अभिव्यक्तिका मार्ग ढूँढ लेती है।" मिश्रजीकी यह व्याख्या उस समय प्रकाशित हुई थी, जब हिन्दीमें द्विवेदीयुगकी इतिवृत्तात्मक कविताकी प्रतिक्रियास्वरूप कवि अन्तर्मुख हो रहे थे। उस समय अन्तर्मुखी रचना को ही "छायावाद" कहा जाता था। उसके 'आलम्बन' की ओर ध्यान नहीं जाता था। वक्रतामयी अभिव्यक्ति भी आवश्यक गुण नहीं माना जाता था।

तभी एक ओर—

'हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही है, तेरी छवि त्रिभुवन में;
तेरी ही छविका विकास है, कविकी बानीमें, मनमें।"—रामनरेश त्रिपाठी

जैसी पंक्तियाँ (जिनमें परमात्माको लक्ष्य कर 'कुछ' लिखा गया है) छायावादकी रचनाओं के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जाती थीं, वहाँ सुभद्रा- ...का यह रचना भी जिसमें लौकिक प्रेमका रस छलछला ...है, ...द' की रचना समझी जाती रही है—

"तुम मुझे पूछते हो, जाऊँ ! क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो !
'जा....' कहते रुकती है जबान किस मुँह से तुमसे कहूँ रहा !
सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था।
मैं सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।"

'छायावाद' की रचनाके लिए न तो 'आलम्बन' विशेष का बन्धन था
र न अभिव्यक्ति की प्रणाली ही आवश्यक थी। जिसमें 'हृदय'के रागकी
ला दीख पड़ती, वही 'छायावाद' की रचना समझी जाती थी। हम 'छाया-
द' को 'हृदयवाद' ● का पर्याय मानते हैं। अतएव उसकी व्यापकताको
कारकर उन सभी रचनाओं को छायावादके अन्तर्गत मानते हैं, जिनमें
न्तरिक अनुभूति प्रतिध्वनित होती है। साथ ही जब हम 'छायावाद' को
 काव्यकी शैली-विशेष भी कहते हैं, तब हमें अनुभूति की अभिव्यक्तिमें
ालापन भी दिखाई देना चाहिये। यह 'निरालापन' कई रूप धारण कर
ता है। सरल भाषामें अर्थ गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषामें भाव-
मताका आभास प्रस्तुत कर हमें कला-सौन्दर्यसे विमुग्ध बना सकता है।
ः 'छायावाद' की रचनाके लिए निम्न दो बातें आवश्यक हैं—

१—रचनाको आन्तरिक अनुभूतिमय होना चाहिये और २—रचनाकी
भिव्यक्तिमें 'निरालापन' होना चाहिये। यह निरालापन शब्दोंकी किसी भी
क्ति' से प्राप्त किया जाय।

'प्रसाद' की अधिकाश रचनाएँ 'छायावाद' की उक्त व्याख्याके अन्तर्गत
ती हैं। उनकी रहस्य-संकेतात्मक रचानाओंकी 'छायावाद' शैली ही है,
ः प्रतीकों—लक्षणा—के सहारे ही उन्होंने अपनी अन्तर्भावनाओंको
शित किया है।

● इस शब्दका सबसे पहिले मैंने सन् १९२७ में 'आँसू' की समीक्षाके
सिलेमें किया था—लेखक।

५—छायावादका शास्त्रीय-परीक्षण

सर्वप्रथम मैं इस निबंधके शीर्षकके विषयमें ही यह स्पष्ट कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ कि 'शास्त्रीय-परीक्षण' कहनेसे मेरा यह कदापि अभिप्राय नहीं है कि छायावादका एक निश्चित एवं सर्वमान्य शास्त्रीय आधार है और छायावादी कवि उसीको अपना पाथेय बनाकर चलता है और न यही मेरा मन्तव्य है कि एक सुनिश्चित शास्त्रीय प्रेरणासे लिखा गया छायावादी काव्य ठीक-ठीक शास्त्रीय कोष्ठकोंमें सर्वत्र बिठाया जा सकता है। फिर प्रश्न होता है कि यह 'शास्त्रीय-परीक्षण' का प्रश्न उठा ही क्यों? इसके उत्तरमें मेरा यही निवेदन है कि प्रायः 'छायावाद' को अशास्त्रीय ही नहीं साहित्य शास्त्रकी दृष्टि से 'अराष्ट्रीय' भी घोषित किया गया है, फिर यह समस्या स्वभावतः उठ सकती है कि यदि भारतीय साहित्य-शास्त्रकी मान्यताओं एवं परंपराओंके अनुसार छायावादी काव्य पर विचार किया जाय तो वह किस कोटिका काव्य ठहरता है और हर सच्चा साहित्य अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमिसे किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध होता है, तो 'छायावाद' उससे कहाँ तक जीवन ले सकता है।

'छायावाद' की, विभिन्न अधिकारी विद्वानों द्वारा विभिन्न रूपोंमें व्याख्या और परिभाषा प्रस्तुत की गई है। आचार्य शुक्लजीने 'छायावाद' की व्याख्या करते समय 'रहस्यवाद' को भी उसीमें समाविष्ट किया है और इस प्रकार उसे वस्तु एवं शैली दोनों ही रूपोंमें ग्रहण किया है पं० नन्ददुलारेजी वाजपेयी उसे एक ऐतिहासिक आवश्यकता एवं दार्शनिक अनुसंधान दोनों ही रूपोंमें स्वीकार करते हैं। प्रसादजीने 'रहस्यवाद' शीर्षक लेखमें भारतीय अनुभूति, स्वानुभव तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य द्वारा 'अहम्' या 'इदम्' से तादात्म्य करनेके प्रयत्नको 'रहस्यवाद'-अन्तर्गत रख कर उसे 'छायावाद' की या विवेचना तो नहीं बतलाई, पर श्रीनन्ददुलारेजीने अपनी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' के १४२ वें पृष्ठ पर फुटनोटमें यह संकेत किया है कि इसे

'छायावाद काव्य भी कहते हैं।' इस प्रकार 'वर्तमान रहस्यवादकी धारा' एवं 'छायावाद' को उन्होंने बहुत कुछ एकही या एकही कोटिका माना। महादेवीजीने व्यक्तिगत अनुभवमें प्राण प्रतिष्ठा, प्रकृतिकी अनेकरूपतामें एक महाचेतनाकी अनुभूति एवं ससीम असीमके एक अलौकिक आरोप-मुक्त सम्बन्धके प्रकाशनको छायावादकी केन्द्रगत भावना मानी। आचार्य हजारी प्रसादजी द्विवेदीने स्पष्ट एवं निश्चित परिभाषा तो नहीं दी, किन्तु उनके मतसे छायावादी कविताओंमें विषयि-प्रधानताके साथ कहीं वाच्यार्थ प्रधान शैली और कहीं व्यंग्यार्थ प्रधान शैलीका सहारा लिया गया है और उसमें प्राचीन रूढ़ियोंकी उपेक्षा स्पष्ट है। श्रीशान्तिप्रियजी द्विवेदीने प्रकृतिमें ही समान-आत्माका दर्शन करना छायावादकी मुख्य प्रवृत्ति माना है।

प्रसादजी छायावादके सर्व प्रथम कवि हैं, उन्होंने अपने 'यथार्थवाद' और 'छायावाद' के विषयमें उसके किसी भी इस प्रकारके दार्शनिक या वस्तु-गत सिद्धान्तका उल्लेख नहीं किया है। शुक्लजी भी छायावादको एक शैली-विशेषके रूपमें ही अधिक ग्रहण करते थे और स्वय प्रसादजीने भी अपने निबन्धमें छायावादकी जो विशेषताएँ बतायी हैं, वे शैली होसे अधिक सम्बद्ध हैं। यद्यपि जीवन-जगतके प्रति स्वीकृत दृष्टिकोण साहित्यकारकी कृतिके वस्तु-सञ्चय एवं उसके विन्यास पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं, पर विषय एवं वस्तुगत सीमाओंकी जड़तामें कोई भी साहित्य सार्वभौम एवं जन-जन हृदय-सम्वेद्य नहीं हो सकता। छायावादी काव्यमें आये वस्तु विषय अपने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती साहित्यमें ग्रहीत विषयोंसे कुछ विशिष्ट हो सकते हैं, किन्तु उन विषयोंको ही विभाजनकी मुख्य कसौटी मानकर चलना ठीक नहीं, क्योंकि हर युगकी अपनी कुछ न कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ अथवा समस्याएँ हुआ करती हैं और वे अन्य विषयोंकी अपेक्षा अधिक अवधारणा प्राप्तकर लेती हैं। रीतिकालमें 'नायक-नायिका भेद' की व्यापकता होने पर भी यह कहना कदाचित् ठीक न होगा कि यह उनका सिद्धान्त या दर्शन था और वे इसके अतिरिक्त विषय पर लिखे गये काव्यको हेय-काव्य या काव्य ही न समझते थे। इसी प्रकार व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यकी आकांक्षा, आत्माभिव्यक्तिकी प्रबलता, वेदनाकी निवृत्ति प्रकृतिके प्रति रागात्मक सम्बन्ध या उसमें चेतना-प्रचेर,

णिकता, सौन्दर्य-मय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रताके साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावादकी विशेषताएँ हैं। अपने भीतरसे मोतीके पानीकी तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।' अन्यत्र उन्होंने कहा है कि 'बाह्य वर्णनसे भिन्न जब वेदनाके आधारपर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दीमें उसे छायावादके नामसे अभिहित किया गया।' उनके मतसे 'ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्शसे पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावोंकी प्रेरणा बाह्य स्थूल आकारमें कुछ विचित्रता उत्पन्न कर देती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावोंके व्यवहारमें प्रचलित पद योजना असफल रही।' उन्होंने 'छाया'के विषयमें भी कहा है कि 'मोती-के भीतर छायाकी जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्तिकी तरलता अंगमें लावण्य कही जाती है। इस लावण्यको संस्कृत साहित्यमें 'छाया' और 'विच्छित्ति' के नामसे कुछ लोगोंने निरूपित किया है' यही नहीं, लोकोत्तीर्ण पद-रचना, वैदग्ध्यभंगी भणिति, उज्वल छायातिशय रमणीयता आदि द्वारा उन्होंने संकेत ही नहीं, बल्कि कुन्तकने अपने प्रेरणा स्रोत माननेका स्पष्ट, उदहरणोंके द्वारा कथन भी किया है। शुक्लजीने भारतीय वक्रोक्तिवादको पश्चिमीय 'अभिव्यञ्जनावाद'का समकक्ष कहकर निकृष्ट और उपेक्षणीय सिद्ध किया है, किन्तु हमें संक्षेपमें यह देखना है कि राजानक कुन्तककी यह 'वक्रता' मात्र-बुद्धि चमत्कार ही थी, अथवा उसमें कोई साहित्य एवं कला-विषयक सत्य भी ध्वनित हुआ है।

कुन्तकने वक्रोक्तिकी व्याख्या 'वक्रोतिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते' कह कर की। यह 'वक्रोक्ति' अलङ्कारवादियोंकी वक्रोक्तिसे भिन्न और इतनी व्यापक है कि इसमें साहित्यके पावन सिद्धान्त समा जाते हैं। यह केवल बौद्धिक चमत्कारकी उदभाविका नहीं, जो मनके ऊपरी स्तर पर एक कुतूहल और विस्मयकी भावना जगाकर ही शान्त हो जाती है। यह कविका वह व्यापक व्यापार है जिसमें रस, अलङ्कार, ध्वनि, रीति-गुण एवं औचित्य आदि सभी तत्व समा जाते हैं। वर्ण वक्रता, पद पूर्वार्ध-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता एवं प्रबंध-वक्रताके विभागोंसे कुन्तकने इस वक्रताको ६ रूपोंमें बाँटा है। कुन्तकने 'लोकोत्तर चमत्कारि वैचित्र्य सिद्धि' अर्थात्

चित्रता, सौन्दर्य-मय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रताके साथ स्वानुभूति की निवृत्ति छायावादकी विशेषताएँ हैं। अपने भीतरसे मोतीके पानीकी तरह आन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।' अन्यत्र उन्होंने कहा है कि 'बाह्य मर्णनसे भिन्न जब वेदनाके आधारपर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दीमें उसे छायावादके नामसे अभिहित किया गया।' उनके मतसे 'ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्शसे पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावोंकी प्रेरणा बाह्य स्थूल आकारमें कुछ विचित्रता उत्पन्न कर देती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावोंके व्यवहारमें प्रचलित पद योजना असफल रही।' उन्होंने 'छाया'के विषयमें भी कहा है कि 'मोती-के भीतर छायाकी जैसी तरलता होती है, वैसी ही कान्तिकी तरलता अंगमें लावण्य कही जाती है। इस लावण्यको संस्कृत साहित्यमें 'छाया' और 'विच्छित्ति' के नामसे कुछ लोगोंने निरूपित किया है' यही नहीं, लोकोत्तीर्ण पद-रचना, वैदग्ध्यभंगी भणिति, उज्वल छायातिशय रमणीयता आदि द्वारा उन्होंने संकेत ही नहीं, बल्कि कुन्तकने अपने प्रेरणा स्रोत माननेका स्पष्ट, उद्धरणोंके द्वारा कथन भी किया है। शुक्लजीने भारतीय वक्रोक्तिवादको पश्चिमीय 'अभिव्यञ्जनावाद'का समकक्ष कहकर निकृष्ट और उपेक्षणीय सिद्ध किया है, किन्तु हमें संक्षेपमें यह देखना है कि राजानक कुन्तककी वह 'वक्रता' मात्र बुद्धि चमत्कार ही थी, अथवा उसमें कोई साहित्य एवं कला-विषयक सत्य भी ध्वनित हुआ है।

कुन्तकने वक्रोक्तिकी व्याख्या 'वक्रोतिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते' कह कर की। यह 'वक्रोक्ति' अलङ्कारवादियोंकी वक्रोक्तिसे भिन्न और इतनी व्यापक है कि इसमें साहित्यके पावन सिद्धान्त समा जाते हैं। यह केवल बौद्धिक चमत्कारकी उदभाविका नहीं, जो मनके ऊपरी स्तर पर एक कुतूहल और विस्मयकी भावना जगाकर ही शान्त हो जाती है। यह कविका वह व्यापक व्यापार है जिसमें रस, अलङ्कार, ध्वनि, रीति-गुण एवं औचित्य आदि सभी तत्व समा जाते हैं। वर्ण वक्रता, पद-पूर्वार्ध वक्रता, प्रत्यय वक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता एवं प्रबंध-वक्रताके विभागोंसे कुन्तकने इस वक्रताको ६ रूपोंमें बाँटा है। कुन्तकने 'लोकोत्तर चमत्कारि वैचित्र्य-सिद्धि' अर्थात्

अलौकिक भावोंकी अभिव्यक्तिके निमित्त उसने वक्रोक्ति-जीवितकी रचना की। उसने उसने वक्रोक्तिको 'विचित्रा अभिधा' भी कहा है। इससे यह अर्थ निकला कि 'वक्रता' एवं 'वैचित्र्य' एक ही है। कुन्तकके शास्त्रीय प्रसिद्ध शब्दार्थों—निर्वंध शास्त्रोक्ति, प्रसिद्ध प्रस्थान वक्रोक्ति एवं कल्पित प्रसिद्ध व्यवहार सरणि—आदि सभी शब्दार्थव्यतीत विचार द्वारा यही सिद्ध होता है कि राजानक कुन्तककी शैलीको सामान्य एवं कठोर वाच्यार्थ प्रधान व्यावहारिक एवं दैनिक भाषा प्रणाली एवं शास्त्रादि विधिसे भिन्न मानता है। अतः 'वैचित्र्य' शब्दसे मजाक और तमाशे होनेकी बात नहीं। 'रस सिद्धान्त' की 'साधारणी-करण' प्रक्रियाकी मान्यता भी यही सिद्ध करती है कि काव्यमें कविके व्यापार अथवा कलात्मक प्रयासका महत्त्व अपरिहार्य है। वक्रोक्तिमतमें काव्यका समस्त सौन्दर्य 'वक्रोक्ति' अथवा 'वैचित्र्य' के ही भीतर है, क्योंकि उसका एक-एक शब्द कविकी विशेष काव्यावस्थामें प्रबुद्ध-अप्रबुद्ध-रूपमें एक विशे अभिप्रायसे विन्यस्त होता है। कविके कर्मकी कुशलताका नाम विदग्धता अतः वैदग्ध्य भंगी-भणितिका अर्थ हुआ—कवि-चातुर्यसे उद्भूत वैचित्र्य-यु कथन-शैली। कुन्तककी शैलीको अभिव्यक्तिवादी या अभिधावादी भी नहं कह सकते, क्योंकि उसकी 'विशिष्ट अभिधा' में लक्षणा और व्यञ्जनाका म अन्तर्भाव है। अर्थ-मात्रकी प्रतीति करानेवाले सभी शब्द नायक हैं। 'अम्लान प्रतिभोदभिन्न-नव शब्दार्थ बंधुर' कहकर राजानकने कवि-प्रतिभा, शब्द एः अर्थ दोनोंके महत्त्वको स्वीकार किया है। 'वक्रोक्ति-जीवित' के १।२३ श्लोकं 'तदिद्दलाद कारिता' की अनिवार्यता मानकर उसने उच्छृङ्खल युक्तिय के विरुद्ध सहृदयोंके अनुरञ्जनकी बात भी मानी है। उसकी वर्ण-वक्रतामें अनुप्रासादि, अलङ्कार पर्याय वक्रतामें अनेक पर्यायोंमेंसे उचित पर्यायके चयन-की आवश्यकता, उपचार वक्रतामें 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' नामक लक्षणा पर आधृत ध्वनि और रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रतामें अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य ध्वनि घिर आते हैं। कुन्तकका 'प्रतीयमान रूपक' आनन्दवर्धनाचार्यकी 'रूपक-ध्वनि' हो जाती है। 'वाक्य-वक्रता' में अलङ्कारोंको एवं 'प्रकरण' तथा 'प्रबन्ध-वक्रता' में 'रस' को समेटते हुए कुन्तकने काव्य एवं उसके प्रभावकी सीमा-वृद्धि ही की है।

यहाँ कुन्तकका संकेत करते हुए रस या ध्वनिके सिद्धान्तका उत्पादन करना मेरा लक्ष्य नहीं है और न कुन्तकके वक्रोक्तिवादका प्रचार ही। इतना कहनेसे मेरा उद्देश्य यही है कि छायावादी प्रसादकी अभिव्यक्ति शैलीको कुन्तक एवं आनन्दवर्धनकी वैचित्र्य प्रतीयमानता-प्रधान सरणिसे प्रेरणा मिली है। अब ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीक-विधान, उपचार-वक्रता एवं स्वानुभूतिकी विवृत्तिकी व्याख्याके साथ रसादि सम्प्रदायोंकी दृष्टिसे छायावादी काव्यपर विचार किया जायगा और यह देखनेका प्रयत्न किया जायगा कि ये प्रथा लियाँ उन प्राचीन शास्त्रोंमें कहाँ तक बैठ सकती हैं।

ध्वन्यात्मकताका संकेत आनन्दवर्धनके 'प्रतीयमान अर्थ'से है। शास्त्रानुसार वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ पर व्यंग्यार्थकी प्रधानता ही ध्वनिका विधान करती है। इसको नारीके सुन्दर अंगावयवोंसे अतिरिक्त सौन्दर्य या लावण्य की भाँति वाच्यार्थादिसे भिन्न माना गया है। 'चारुत्वोत्कर्षनिबंधना हि वाच्य व्यंग्ययोः प्राधान्य विवक्षा' एवं 'वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्'के द्वारा वाच्यसे उत्कृष्ट व्यंग्यको ही क्रमशः 'ध्वन्या लोक' एवं साहित्य-दर्पण में ध्वनि कहा गया है। शास्त्रमें इसकी उपमा सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होनेवाली घंटा-ध्वनिसे दी गई है। वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि एवं रसादि-ध्वनि नामसे ध्वनिके तीन रूप माने गये हैं। इनमें वस्तु ध्वनिका बड़ा ही सुन्दर विस्तार छायावादी काव्यमें हुआ है। निरालाकी 'संध्या सुन्दरी'में वस्तु ध्वनिका बहुत ही सुन्दर रूप उपस्थित हुआ है—

'सखी नीरवताके कंधेपर डाले बाँह छाँह-सी अम्बर-पथसे चली
वह सध्या-सुन्दरी 'परी-सी धीरे-धीरे !'

'नीरवताके कंधेपर हाथ डालने'से संध्याकालकी शान्ति एवं निस्तब्धता, 'छाँह-सी'से संध्याका छाया-रूपसे उतरना, 'अम्बर पथसे उतरने'से उसकी काया-कोमलता एवं परी-सी सुषमा, सुकुमारता आदि सभी बातें ध्वनित हो जाती हैं। अलंकार ध्वनिमें अलंकार वाच्य न होकर व्यंग्य होता है। ध्वनिके प्रधानतः अभिधा-मूल तथा लक्षणा मूल नामके दो भेद किये गये हैं। इन्हें ही क्रमसे विवक्षितान्यपर वाच्य-ध्वनि और अविवक्षित वाच्य ध्वनि भी कहते हैं। अभिधा-मूलामें वाच्यार्थकी विवक्षा-अपेक्षा होती है, पर लक्षणा-

मूलाके अर्थान्तर-संक्रमित और अत्यन्त-तिरस्कृत अवान्तर भेद माने गये हैं। अलङ्कार और वस्तु-ध्वनि अभिधा-मूलाके संलक्ष्यक्रम व्यंग्य एवं असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य तथा लक्षणा मूलाके अर्थान्तर-संक्रमित और अत्यन्त-तिरस्कृत अवान्तर भेद माने गये हैं। अलङ्कार और वस्तु ध्वनि अभिधा मूलाके संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनिमें आती हैं, पर रसादिध्वनि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनिमें परिगणित है। अर्थान्तर-संक्रमितमें प्रयोजनवती लक्षणा और अत्यन्त-तिरस्कृतमें लक्षण-लक्षणा गृहीत होती है। रसादि-ध्वनिका अधिक स्पष्ट उल्लेख 'रस'के प्रसंगमें होगा। यहाँ वस्तु और अलङ्कार-ध्वनियोंके विषयमें यही कहना है कि रसके काव्यकी आत्मा माननेपर भी वस्तु एवं अलङ्कारोंके अपने स्थानपर महत्व रखनेसे इन्कार नहीं किया जा सकता। छायावादी काव्य रीतिकालके विरोधी इतिवृत्तात्मक द्विवेदी युगके भी विरुद्ध एक उत्थान था, अतएव रसके आधारों—विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदिके स्पष्ट उल्लेख न करके इस श्रेणीके कवियोंने एवं अलङ्कारोंकी ध्वनिके द्वारा अपनी सारी अनुभूतियों एवं संदर्शनोंको अन्तर्मुक्त किया है। शब्द-शक्ति उद्भवा एवं अर्थ-शक्ति उद्भवा ध्वनियोंमें शब्द-शक्ति उद्भवाका ही प्रयोग अधिक हुआ है। संलक्ष्यक्रम-ध्वनि जिसे अनुरण ध्वनि भी कहते हैं, 'निराला'की 'सरोज-स्मृति' कवितामें अलङ्कार-ध्वनिके रूपमें देखी जा सकती है।

'चढ़ मृत्यु-तरणि तर तूर्ण चरण कहँ—पितः पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मैं यह नहीं मरण 'सरोज'की ज्योतिः शरण-तरण'

यहाँ 'सरोज' पद-दृष्टान्त-अलङ्कारकी ध्वनि करता हुआ अनुपम सौन्दर्य बिखेर रहा है। 'सरोज'के किरणोंमें मिलनेका दृष्टान्त परमात्मामें जीवात्माके मिल जानेके सङ्केतसे ध्वनित किया गया है।

छायावादी कविको भावोंकी लोक-भूमिपर उतरकर रसास्वादन करानेकी अपेक्षा अपनी सुख दुःखमयी अनुभूतियों एवं विषम अवस्थाओंका ध्वनन अधिक आवश्यक था, अतएव उसने 'वस्तु'को सर्वाधिक महत्व दिया। इसीके सफल एवं प्रभावपूर्ण संवेदन—सम्प्रेषणके लिए उसने अलङ्कारका भी सहारा लिया, पर आनन्द-दान एवं चमत्कृतिसे अधिक महत्वपूर्ण समस्या उसके लिए अपनी कटु-मधुर अनुभूतियोंकी थी, जिसे वह परिष्कृत एवं

उदात्तीकृत रूपमें नहीं उसको मूल-प्राकृत संवेदनाओंके साथ ही दे देना चाहता है। अर्थशक्ति-उद्भव अनुकरण ध्वनिके 'स्वतः-सम्भवी', 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध' एवं 'कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध'-भेदोंमें 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध' रूप ही अधिक आया है। इन्हीं प्रौढ़ोक्तियोंके कारण भी छायावादी काव्य प्रसिद्ध-पद्धतिके अनुसारियोंको दुर्बोध लगता है। 'प्रौढ़ोक्ति' का अर्थ है, वह उक्ति जो कवि-कल्पनामें ही सिद्ध हो, प्रत्यक्ष अथवा व्यावहारिक रूपमें नहीं। प्रसादजी कहते हैं—

चमकूँगा धूलि-कणोंमें सौरभ बन उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कुहीं कहीं तो पथमें टकराऊँगा॥—(आँसू)

'निराला' जीका विधवाको 'इष्टदेवके मन्दिरकी पूजा' 'क्रूर काल-ताण्डवकी स्मृति-रेखा' आदि कहना प्रौढ़ोक्ति ही है। इसी प्रकार कवियों द्वारा निबद्ध पात्रोंसे भी प्रौढ़ोक्तियोंकी नियोजना प्रचुर मात्रामें हुई है। विशेषण-वक्रताके रूपमें आये सभी छायावादी काव्यके अधिकांश विशेषण इस कोटिमें आ जाते हैं। 'मुखर आँसू' एवं 'रुदित वीणा' जैसे पदोंकी सार्थकताके मूलमें भी यही है। प्रकृतिके उपकरणोंसे मानवीय कार्योंके कराने एवं प्राकृतिक व्यापारों पर मानुषिक क्रिया-कलापोंके आरोपोंमें यही प्रौढ़ोक्ति विद्यमान है। कुछ विद्वानोंने छायावादके यावत् काव्य-प्रसारमें लक्षणा मूला-ध्वनिका दूरारूढ़ रूप ही प्रधान माना है।

लाक्षणिकता—यह छायावादकी दूसरी विशेषता है। मुख्यार्थकी बाधा होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन-विशेषके कारण मुख्यार्थसे सम्बन्ध अन्य द्योतित अर्थको लक्ष्यार्थ उस शब्दको लाक्षणिक एवं उस शक्तिको लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार मुख्यार्थकी बाधा, मुख्यार्थसे योग एवं रूढ़ि अथवा प्रयोजन—इन तीन कारणोंसे लक्ष्यार्थ सिद्ध होता है। वाच्यार्थके इसी संबन्धके कारण लक्षणा 'अभिधा-पुच्छ-भूता' भी कही गई है। पर यह सम्बन्ध शक्य ही होना चाहिये, दूराधिरूढ़ अथवा नेयार्थत्व-दोष-दुष्ट नहीं। लक्षणाका प्रयोग अत्यधिक रूपसे छायावादी कवियोंने किया है। यह लाक्षणिकता प्रारम्भमें हिन्दीके आलोचकोंको नहीं रुची और उसका बड़ा विरोध हुआ, जिसका सम्भवतः प्रच्छन्न स्वर यह भी रहा कि व्यंजना जैसी सर्वश्रेष्ठ शक्तिके होते

हुए लक्षणाका इस भाषामें प्रयोग भाषा एवं साहित्यके ऐतिहासिक विकास एवं उसकी स्थितियोंको बताता है। जो भी हो, लक्षणा एवं व्यञ्जनाकी यह विशेषता होती है कि इनके द्वारा इसका चित्रात्मक साक्षात्कार प्रत्यक्ष इन्द्रिय ग्राह्य रूपमें होता है। कविताकी मांसलता एवं रसमयताकी व्याप्तिके लिए रूप-प्रसादकी यह ऐसी दीप-मयूरी कहा है कि एक बार तो इसका स्थूल प्रत्यक्ष हो जाता है और दूसरी बार उसके भीतरका सूक्ष्म अर्थ-सौन्दर्य भी 'मानिक दानोंकी भाँति' झलमला उठता है। (कभी इसमें कल्पनाका भी प्रायः ऐसा पड़ता है।) 'विश्व मदन' के उद्‌घोषक प्रसादने शायद यही अभिधाके सार्थको इस परम अर्थ-कड़ेको कभी अधिक पसन्द न कर सके।

रूढ़िकी अपेक्षा प्रयोजनवती लक्षणा ही छायावादका केन्द्र-बिन्दु है। प्रयोजनवतीमें भी गौणीकी अपेक्षा शुद्धाका चमत्कार भाषामें अधिक है। प्रस्तुत पक्षके अधिकांशतः परोक्ष होनेके कारण इनके सा सारोपाकी अपेक्षा साध्यवसाना रूप होनेकी अधिकता है। शुद्धा-अशुद्धा भेदोंमें शुद्धाकी ओर ही छायावाद अधिक प्रवृत्त है।

इस युगके काव्यमें तात्पर्य, तादर्थ्य, तत्सामीप्य, तत्साहचर्य एवं तादर्म्य सम्बन्धोंके अतिरिक्त तात्कर्म्य, वैपरीत्य, प्रेर्य-प्रेरक भाव, सामान्य विशेष भाव, कार्य-कारण-भाव, आधाराधेय भाव, अवयवावयवि-भाव एवं स्वस्वामिभावसे घटित लक्षणाओंके सुनहले तार यत्र-तत्र-सर्वत्र बुने हुये हैं। 'सारोपा गौणी लक्षणा' का उदाहरण दर्शनीय है, साथ ही 'बालक मन' में लक्षण लक्षणा भी घटित है।

'स्वर्ण किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन'। —(निराला)

स्वर्ण-किरणों पर कल्लोल का आरोप है।

गौणी साध्यवसानाका उदाहरण 'आँसू' से उद्‌धृत है—

> 'बाँधा है शशिको किसने उन काली जंजीरों से।
> मणिवाले फणियोंका मुख क्यों भरा हुआ हीरों से॥'

गौणी साध्यवसाना उपादानमूला प्रयोजनवती लक्षणाका उदाहरण 'दिनकर' से लिया जाता है।

हित्य नहीं रचता। रीति अलङ्कार या वक्रोक्तिके युगमें शायद
ो। राजशेखरकी 'काव्य-मीमांसा'में ऐसे ही कवियोंका उल्लेख
जो भाव और अर्थकी राई-रत्ती चिन्ता न करके केवल चुने हुए
ाला गूँथा करते थे और आचार्य शास्त्र तथा व्याकरणसे उन
से-तैसे अर्थ और संगति प्रमाणित कर दिया करते थे। कहा जाता
यमित अभ्याससे आगे चलकर वैसे लोग कवि हो भी जाते थे।
ोंगे कवि, किन्तु शास्त्र तो तब भी ऐसे बने कवियोंको कवि नहीं मानता
वकी प्रतिभा सबसे अब तक जन्मजात ही मानी जाती रही। अन-
ास और अनुशीलनसे कवित्व-शक्तिका विकास हो सकता है। जो
ाहे जो भी होता रहा हो, अब तो यह बात सिद्धान्तरूपमें ग्रहण
ुकी है कि केवल शब्दोंका कारुकार्य और कुछ हो सकता है, साहित्य
सकता। रचनाके दो ही प्रधान तत्व हैं—एक उसका रस, दूसरा
ग। रूपके हिसाबसे साहित्यमें शैलीका एक खास महत्व है;
ौलीसे हमारा अभिप्राय रीति अथवा शब्द-सौष्ठव, पद योजना और
न्यासले ही नहीं है। अभिप्राय है भावके उपयुक्त वाणी-रूपसे,
के वाङ्मय प्रकाशसे। रस ही काव्य या साहित्यसे कामनाकी वस्तु
लिए रूपसे आधारको निष्प्रयोजन नहीं कहा सकता, शराब और
की तरह साहित्यमें आधारभूत और आधारका स्थान नहीं होता।
भी और कैसे भी पैमानेसे शराब पी सकते हैं। शराबकी उत्तमताके
से ही नशेकी उत्तेजना होती है, पैमानेकी सुन्दरता-असुन्दरतासे
चाहे अन्तर आता हो, प्रभावमें विकृति नहीं आती। फिर पैमाना
से एकरस नहीं होता। पीनेसे वह निःशेष होता है, उसे फिर-फिर
ी जरूरत पड़ती है; किन्तु जिस वाणी रूपमें सत्य आत्म-प्रकाश करता
ह उससे कभी विच्छिन्न नहीं होता। आप जितना ही भापाके पैमानेसे
ीते चले जायँ, वह बार बार छलकता ही आता है, क्योंकि जिस प्राञ्जल-
वह हृदयसे रूप-परिग्रह करता है, वह स्थायी और कालान्तरव्यापी
करता है। मूर्ति या चित्रमें अङ्कित भावकी तरह साहित्यकी आकृति
द्वार भी अपने उसी रूपमें निर्विकार रहती है। बात यह है कि किसी

वती अलंकार, रस, रीति गुण एवं ध्वनि-सिद्धान्तोंका सामंजस्य कर कवि-व्यापारको प्रधानता देते हुये, एक व्यापक 'वक्रोक्ति' का प्रणयन किया था, उसी प्रकार छायावादने भी रस, भाव, अलंकार, ध्वनि लक्षण, अभिधा, रीति आदि सभी तत्वोंकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिके कराहमें कल्पनाके सुगन्धित छींटोंसे ऐसी कलामयी चाशनी चढ़ाई, जिसमें व्यष्टिकी वीणासे गुंजरित रागिनी समष्टिके तारोंको झनझना उठी। अवश्य ही यह स्वर समाजके जड़ नियमोंकी यान्त्रिकताके विरुद्ध व्यक्तिके 'अवकाश' का विद्रोह था। इसमें सामयिक जीवनकी स्पन्दना थी और व्यक्तिकी जागरूकताके सत्वकी गुञ्जार। इसने साहित्य-दर्पणकार एवं अभिनवगुप्त पादाचार्यकी 'रस-सरणि' का साम्प्रदायिक अनुगमन नहीं किया, वरन् अपने युगके प्राणमय तत्वोंको आत्मसात कर जीवनकी अभिव्यक्तिको अपना लक्ष्य माना, किन्तु यह कहना कि उसकी जड़ भारतीय काव्य शैलीसे सर्वथा विजातीय भूमिसे ही जीवन लेती रही है, सर्वथा सत्य नहीं। बंगला एवं अंग्रेजी साहित्यसे भी वह एक सचेतन एवं जीवित साहित्यकी भाँति ही प्रतिकृत हुआ, अन्धानुकारीकी भाँति नहीं। वह अपने अतीत एवं वर्तमान दोनोंसे एक सप्राण सूत्रमें सम्बद्ध है।

६—साहित्य और सहज भाषा

साहित्यमें सहज भाषाकी माँग बड़े जोरोंसे की जाने लगी है। वास्तवमें यह माँग कुछ बुरी नहीं। जो लोग इस पर जोर दे रहे हैं, अवश्य ही वे सब प्रकारसे साहित्यके शुभैषी ही होंगे। लेकिन साथ ही एक बात यह भी सोचने की है, जो साहित्यकार साहित्यके जन्मदाता है, स्वयं वे ही उसका अशुभ कैसे चाह सकते हैं? उनके लिए तो साहित्यके शुभका आग्रह ही स्वाभाविक है। अतः इससे हम यह विश्वास कर सकते हैं कि औरों की अपेक्षा साहित्यकार सहज भाषाके कुछ कम हिमायती नहीं होंगे।

रस और रूप—शब्दकोश और व्याकरणको सामने रखकर साधारण-

तया कोई साहित्य नहीं रचता। रीति अलङ्कार या वक्रोक्तिके युगमें शायद ऐसा होता हो। राजशेखरकी 'काव्य-मीमांसा'में ऐसे ही कवियोंका उल्लेख मिलता है, जो भाव और अर्थकी राई-रत्ती चिन्ता न करके केवल चुने हुए शब्दोंकी माला गूँथा करते थे और आचार्य शास्त्र तथा व्याकरणसे उन शब्दोंके जैसे-तैसे अर्थ और संगति प्रमाणित कर दिया करते थे। कहा जाता है इस नियमित अभ्याससे आगे चलकर वैसे लोग कवि हो भी जाते थे। हो जाते होंगे कवि, किन्तु शास्त्र तो तब भी ऐसे बने कविको कवि नहीं मानता था। कविकी प्रतिभा तबसे अब तक जन्मजात ही मानी जाती रही। अनवरत अभ्यास और अनुशीलनसे कवित्व-शक्तिका विकास हो सकता है। जो हो, तब चाहे जो भी होता रहा हो, अब तो यह बात सिद्धान्तरूपमें ग्रहण की जा चुकी है कि केवल शब्दोंका कारुकार्य और कुछ हो सकता है, साहित्य नहीं हो सकता। रचनाके दो ही प्रधान तत्व हैं—एक उसका रस, दूसरा उसका रूप। रूपके हिसाबसे साहित्यमें शैलीका एक खास महत्व है; किन्तु शैलीसे हमारा अभिप्राय रीति अथवा शब्द-सौष्ठव, पद योजना और वाक्य विन्याससे ही नहीं है। अभिप्राय है भावके उपयुक्त वाणी-रूपसे, चिन्मयके वांगमय प्रकाशसे। रस ही काव्य या साहित्यसे कामनाकी वस्तु है, इसलिए रूपसे आधारको निष्प्रयोजन नहीं कहा सकता, शराब और पैमानेकी तरह साहित्यमें आधारभूत और आधारका स्थान नहीं होता। किसी भी और कैसे भी पैमानेसे शराब पी सकते हैं। शराबकी उत्तमताके हिसाबसे ही नशेकी उत्तेजना होती है, पैमानेकी सुन्दरता-असुन्दरतासे रुचिमें चाहे अन्तर आता हो, प्रभावमें विकृति नहीं आती। फिर पैमाना शराबसे एकरस नहीं होता। पीनेसे वह निःशेष होता है, उसे फिर-फिर भरनेकी जरूरत पड़ती है; किन्तु जिस वाणी रूपमें सत्य आत्म-प्रकाश करता है, वह उससे कभी विच्छिन्न नहीं होता। आप जितना ही भाषाके पैमानेसे उसे पीते चले जायँ, वह बार बार छलकता ही आता है, क्योंकि जिस प्राञ्जल-रूपमें वह हृदयसे रूप-परिग्रह करता है, वह स्थायी और कालान्तरव्यापी हुआ करता है। मूर्ति या चित्रमें अङ्कित भावकी तरह साहित्यकी प्रतिकी ह हज़ार भी अपने उसी रूपमें निर्विकार रहती है। बात यह है कि किसी

भी प्रकारकी चिन्तना, किसी भी प्रकारका भाव जब तक हमारी चेतनामें रूप लेता है, तब तक वह वर्तमान और गतिशील होता है; वाक्यमें रूप ग्रहण करते ही वह स्थिर और एक रूप हो जाता है। शास्त्रहोग्ने चिन्तन के साथ लेखनीका सम्बन्ध बताया है, जो सम्बन्ध भ्रमणमें छड़ीका है। छड़ी न हो, तो अधिक स्वच्छन्दतासे चला जा सकता है। उसी प्रकार यदि लेखनी न हो, तो चिन्तन-कार्य और सुगमतासे चल सकता है। इसलिए वाणी रूपमें जो रस सिञ्चित होता है, वह न केवल स्थायी, वरन् अखण्ड होता है।

रूप और रसकी इसी अखण्डता और अविच्छिन्नताके लिए कलाके अनेक प्रवाद-वाक्य प्रचलित हैं। कहना व्यर्थ होगा कि उसके यथार्थ अर्थका आज तक अनर्थ ही होता रहा है, जैसे—कलाके लिए कला। अपने कविता-विषयक सुप्रसिद्ध व्याख्यानमें ब्रैडलेने यही कहा है। कहते हैं; कभी किसीने रवि बाबूसे किसी कविताका अर्थ पूछा, तो उन्होंने कहा—"इस कविताका अर्थ स्वयं यह कविता है।" उनके इस कहनेसे या 'कलाके लिए कला' कहनेसे काव्यका हृदय जीवन निरपेक्ष नहीं हो जाता। इसका यथार्थ अर्थ तो यह है कि जिस भाषा रूपमें भाव बाहर आता है, उससे वह ऐसा सश्लिष्ट होता है कि उससे भिन्न उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। उस अखण्डतामें ही उसे देखा जा सकता है। शब्द और अर्थ जिस प्रकार पार्वती-परमेश्वरके समान एकीभूत हैं भाव और भाषा भी वैसे ही अभेद्य हैं। इसीलिए पोपने जब शैलीका परिधान कहा, तो कार्लाइलने उसमें संशोधन किया कि नहीं, शैली परिधान नहीं उसका त्वक है। कार्लाइल यों बनावटी भाषा विरोधी रहा। भाषाके जिस कृतिम इन्द्रजालको लोग शैली या स्टाइल कहते हैं, उसको कार्लाइलने साहित्यके लिए आवश्यक नहीं माना है। उसका कहना है, किसी ग्रंथकी अच्छाई बुराईके लिए भाषा शैलीका कोई महत्व नहीं। इस भाषा-शैलीसे रीतिके आडम्बरको ही समझना चाहिए; क्योंकि कृतिम भाषा शैलीका अंग नहीं है। भावको मूर्त और अगोचरको गोचर करनेके लिए भाषाकी जहाँ तक उपयुक्तता है, वह आवश्यक अंश वस्तुतः अलंकार नहीं। शरीरकी सुन्दरतामें लावण्य जैसा स्वाभाविक और अभिन्न है, भावके रूप विधानमें

कारण लोग यह समझेंगे कि इसमें भारी भरकम कुछ है जरूर; जिसे
नहीं समझ पाते। फलतः भाषाकी क्लिष्टता न तो साहित्यका सौन्दर्य
साहित्यकी साधना।

आत्मप्रकाश और सहज भाषा—सहज भाषाके लिए रचन
आग्रह होनेका एक प्रमाण मिलता है। रचना करनेका तात्पर्य है,
कारासे मुक्त होना। इसीलिए कलाको आत्मप्रकाश कहा गया है।
प्रकाशका मतलब ही है, बहुतोंमें अपना प्रसार और प्रतिष्ठा। तुलसीने
स्वान्तः सुखकी चर्चा की है, उसका अर्थ अपने सुख जैसी एक छोट
नहीं है। आत्मप्रकाश द्वारा अपनेको जो सुख मिलता है, वह इसलि
अपने स्वयंको संकीर्ण सीमासे मुक्ति और समष्टिमें विस्तृति मिलती है।
की प्रतिष्ठा भी अपने आपसे नहीं होती, बहुतोंके बीचमें उसे बिखरा
ही हो सकता है। इसलिए रचनाकारका स्वान्तः सुख चिड़ियोंके गीत
उसीके लिए नहीं; उसका लक्ष्य समाज है। स्वयं तुलसीने ही कहा
'उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं।' व्यक्तिनिष्ठ साहित्यकी भी मर्मवाणी
होती है, देखनेमें आत्मकेन्द्रित भले ही हो। ऐसी रचनाओंका प्रथम
'मैं' समग्र मानव-समाज, समस्त मानव-सत्ताके लिए ही अपने विस्त
कामना करता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो वैसी सृष्टि रवीन्द्रके शब्दोंमें अ
सृष्टि ही होगी। रवीन्द्रने रचनाके हिसाबसे सृष्टिकी तीन कोटियाँ निर्धारि
हैं-सृष्टि, असृष्टि और अनासृष्टि। सृष्टिमें अनेक 'मैं' उस एकको देखत
असृष्टिमें अनेक 'मैं' अपने बिखरे हुये अनेकत्वकको देखता है और अ
सृष्टिमें प्रत्येक 'मैं' सबसे अलग अपने आपको ही देखता है। इस द
समाज सृष्टि है, भीड़ असृष्टि और रेलमपेल अनासृष्टि। व्यक्तिनिष्ठ सा
तभी साहित्य पदवाच्य होता है, जब उसका बीज-रूप 'मैं' समष्टिमें अ
शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर फल देता है। साहित्य-सृष्टिकी दो प्रवृत्तियाँ दे
जाती हैं—भावनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। ठीक इसी प्रकार रचनाकारमें दो दृ
देखी जाती हैं-विषयनिष्ठ और विषयिनिष्ठ। सच्चा साहित्यकार हम उसे
जा एक सीमापर दोनों दृष्टियोंका गंगा-सागर कर दे सकता है।
ावनाओंको नैयक्तिक रूप दे सकता है। प्रतिभाके पुत्र ऐसा

कारण लोग यह समझेंगे कि इनसे भारी मतलब कुछ है जरूर; जिसे कि हम नहीं समझ पाते। फलतः भाषाकी क्लिष्टता न तो साहित्यका सौन्दर्य है, न साहित्यकी साधना।

आत्मप्रकाश और सहज भाषा—सहज भाषाके लिए रचनाकारमें आग्रह होनेका एक प्रमाण मिलता है। रचना करनेका तात्पर्य है, देहकी कारासे मुक्त होना। इसीलिए कलाको आत्मप्रकाश कहा गया है। आत्म-प्रकाशका मतलब ही है, बहुतोंमें अपना प्रसार और प्रतिष्ठा। तुलसीने जिस स्वान्तः सुखकी चर्चा की है, उसका अर्थ अपने सुख जैसी एक छोटी बात नहीं है। आत्मप्रकाश द्वारा अपनेको जो सुख मिलता है, वह इसलिए कि अपने स्वयंको संकीर्ण सीमासे मुक्ति और समष्टिमें विस्तृति मिलती है। 'मैं' की प्रतिष्ठा भी अपने आपसे नहीं होती, बहुतोंके बीचमें उसे बिखरा देनेसे ही हो सकता है। इसलिए रचनाकारका स्वान्तः सुख चिड़ियोंके गीत जै उसीके लिए नहीं; उसका लक्ष्य समाज है। स्वयं तुलसीने ही कहा है 'उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं।' व्यक्तिनिष्ठ साहित्यकी भी मर्मवाणी स होती है, देखनेमें आत्मकेन्द्रित भले ही हो। ऐसी रचनाओंका प्रथम पु 'मैं' समग्र मानव-समाज, समस्त मानव-सत्ताके लिए ही अपने विस्तार कामना करता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो वैसी सृष्टि रवीन्द्रके शब्दोंमें अन सृष्टि ही होगी। रवीन्द्रने रचनाके हिसाबसे सृष्टिकी तीन कोटियाँ निर्धारित हैं—सृष्टि, असृष्टि और अनासृष्टि। सृष्टिमें अनेक 'मैं' उस एकको देखता असृष्टिमें अनेक 'मैं' अपने बिखरे हुये अनेकत्वको देखता है और अन सृष्टिमें प्रत्येक 'मैं' सबसे अलग अपने आपको ही देखता है। इस दृष्टि समाज सृष्टि है, भीड़ असृष्टि और रेलमपेल अनासृष्टि। व्यक्तिनिष्ठ साहि तभी साहित्य पदवाच्य होता है, जब उसका बीज रूप 'मैं' समष्टिमें अपन शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर फल देता है। साहित्य-सृष्टिकी दो प्रवृत्तियाँ देख जाती हैं—भावनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। ठीक इसी प्रकार रचनाकारमें दो दृष्टियं देखी जाती है—विषयनिष्ठ और विषयिनिष्ठ। सच्चा साहित्यकार हम उसे ह कहेंगे, जो एक सीमापर दोनों दृष्टियोंका गंगा-सागर कर दे सकता है। ज वैयक्तिक भावनाओंको नैर्व्यक्तिक रूप दे सकता है। प्रतिभाके पुत्र ऐसा क

कारण लोग यह समझेंगे कि इसमें भारी भरकम कुछ है जरूर; जिसे कि हम नहीं समझ पाते। फलतः भाषाकी क्लिष्टता न तो साहित्यका सौन्दर्य है, न साहित्यकी साधना।

आत्मप्रकाश और सहज भाषा—सहज भाषाके लिए रचनाकारमें आग्रह होनेका एक प्रमाण मिलता है। रचना करनेका तात्पर्य है, देहकी कारासे मुक्त होना। इसीलिए कलाको *आत्मप्रकाश* कहा गया है। आत्मप्रकाशका मतलब ही है, बहुतोंमें अपना प्रसार और प्रतिष्ठा। तुलसीने जिस *स्वान्तः सुखकी चर्चाकी है, उसका अर्थ अपने सुख जैसी एक छोटी बात नहीं है।* आत्मप्रकाश द्वारा अपनेको जो सुख मिलता है, वह इसलिए कि अपने स्वयंको संकीर्ण सीमासे मुक्ति और समष्टिमें विस्तृति मिलती है। 'मैं' की प्रतिष्ठा भी अपने आपसे नहीं होती, बहुतोंके बीचमें उसे बिखरा देनेसे ही हो सकता है। इसलिए रचनाकारका स्वान्तः सुख चिड़ियोंके गीत जैसा उसीके लिए नहीं; उसका लक्ष्य समाज है। स्वयं तुलसीने ही कहा है—'उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं।' व्यक्तिनिष्ठ साहित्यकी भी मर्मवाणी यही होती है, *देखनेमें आत्मकेन्द्रित भले ही हो। ऐसी रचनाओंका प्रथम पुरुष* 'मैं' समग्र मानव-समाज, समस्त मानव-सत्ताके लिए ही अपने विस्तारकी कामना करता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो वैसी सृष्टि रवीन्द्रके शब्दोंमें अनासृष्टि ही होगी। रवीन्द्रने रचनाके हिसाबसे सृष्टिकी तीन कोटियाँ निर्धारितकी हैं-सृष्टि, असृष्टि और अनासृष्टि। सृष्टिमें अनेक 'मैं' उस एकको देखता है, असृष्टिमें अनेक 'मैं' अपने बिखरे हुये अनेकत्वकको देखता है और अनासृष्टिमें प्रत्येक 'मैं' सबसे अलग अपने आपको ही देखता है। इस दृष्टिसे समाज सृष्टि है, भीड़ असृष्टि और रेलमपेल अनासृष्टि। व्यक्तिनिष्ठ साहित्य तभी साहित्य पदवाच्य होता है, जब उसका बीज-रूप 'मैं' समष्टिमें अपनी शाखा-प्रशाखाएँ फैलाकर फल देता है। साहित्य-सृष्टिकी दो प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं—भावनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। ठीक इसी प्रकार रचनाकारमें दो दृष्टियाँ देखी जाती हैं-विषयनिष्ठ और विषयिनिष्ठ। सच्चा सा[illegible] ही कहेंगे, जो एक सीमापर दोनों दृष्टियोंका गंगा-सागर कर [illegible] वैयक्तिक भावनाओंको नैयक्तिक रूप दे [illegible]

सकते हैं। बल्कि ऐसा ही करते हैं वे अपने अन्तरके अनुभूत सत्यको न
बाहर प्रकट करते हैं, वरन् उसे स्थायित्व देते हैं। उनकी अनुभूति व्यक्ति
से उठकर मनुष्य मात्रकी अनुभूति होती है। वह विशिष्ट होकर भी नि
व्यञ्जना करते हैं और इस प्रकार उनका विशेष प्रत्यक्ष रूपमें निर्विशेष
सर्वजन संवेद्य होता है। हाँ, तो हम यह कहना चाह रहे थे कि जब स
की सार्थकता बहुतोंमें ही सिद्ध होती है और बहुतोंमें अपनी प्रतिष्ठाके
ही कोई रचना करता है, तो उसे सहज भाषाका पक्षपाती होना ही चा
इस दशामें क्लिष्ट और जटिल भाषाके लिए रचनाकारको अना
आसक्ति, निरर्थक हठ और दुराग्रह हो भी कैसे सकता है?

सहज भाषाकी स्वाभाविकता—अब आप पूछ सकते हैं f
साहित्यका सर्वस्व एवं साहित्यकारकी साधना सहज भाषा ही है, तो
भाषाकी माँग क्या बला है? क्लिष्टता होती, तो परिहारकी आवश्यकत
जटिलता होती तो दूर करनेकी चेष्टा होती, किन्तु कुछ भी नहीं है, तो
र्थक माँग सरल भाषाकी क्यों हो रही है? उत्तरमें हम कहेंगे, कुछ तो
है, जो भाषा सहज होती है, वह सीधी भी होती है, यह नहीं कहा जा
भाषाकी सरलता और बात है और सुबोधता और बात—विशेष क
साहित्यके लिए, क्योंकि भाषा तो मात्र वक्तव्य वस्तुका वाहन है। इ
उसका रूप वक्तव्यकी प्रकृतिके अनुसार ही होगी। दो छोटे-छोटे उद
देखिये पहली दो पंक्तियाँ उर्दूके कवि 'नूह' की हैं—

'इश्क़में वह चार मंजिल कर गया, मरते मरते, मरते मरते मर गय

इनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं आया है, जिसमें कुछ दुरूहता
शब्द कोष टटोलनेकी आवश्यकता पड़े। चमत्कारका भी कोई मोह न
किन्तु भावकी दृष्टिसे इसकी प्रकृति इतनी सीधी नहीं। जितनीकी देख
झलक जाती है। चूँकि इसमें भाव प्रांजल है, इसलिए बात जी व
तुरंत छू लेती है, पाठकको भाषाकी शक्ति और ध्यान देनेका अव
नहीं मिलता, नहीं तो चार चार मरते शब्दके बेढंगे प्रयोगमें घुल घु
मरनेकी जिस पीड़ाको ढंगसे कहा गया है, व्यञ्जनाकी उस सुघरता मे
कहा होती। अथवा शेक्सपियरके 'जूलियस सीज़र'की निम्नोक्त पंक्तियाँ—

'बाउ निठुर कम भी भोर। मेरा, मेरा, मेरा, मेरा, मेरा॥
मैं भू चमद् रिम बटन।'

भावाके जिस सहज धर्म एवं उपयुक्त शक्तिका निर्वाह ऊपरकी पंक्तियोंमें है, उससे कहीं अधिक गहरी वेदनाको मन इन टूटे फूटे शब्दोंमें मिला है, क्योंकि इनमें न रीति है, न चमत्कार शब्द योजना, न पदविन्यास। फिर भी ये पंक्तियाँ मार्मिक हैं। क्यों? क्योंकि उस असीम वेदनाकी भाषा भी क्या हो सकती है, उसकी भाषा निर्माता ही है। किन्तु नीचे दासकी विरह-विदग्ध पंक्तियाँ देखिए—

> अब तो बिहारीके वे बानक गए री,
> तेरी तन-दुति केसरको नैन कसमीर भो।
> भौन धुपवानी स्वाती बूँदनके चातकमे,
> साँसनको भरिबे द्रुपदजाके चीर भो॥
> हियको हरष मरु धरनिको नीर भो।
> री जियरो मनोभव-सरनको तुनीर भो॥
> ऐरी! बेगि करिके मिलापु थिर थापु।
> नतो आपु अब चहत अतनुको सरीर भो॥

भाषा तो यहाँ कुछ कठिन नहीं है, किन्तु कथनकी प्रकृतिसे उसमें सुगमता नहीं है। इसमें उपमा, रूपक प्रभृति अनेक कुछ आ गए हैं और भावकी प्रेरणासे स्वतः आ गए हैं, कविने शास्त्रके नियमोंको सामने रखकर इनकी रचना नहीं की। अब यदि इनमें शब्दोंका हेर-फेर किया जाय तो अभिव्यक्तिका जो रूप है, वह टिक नहीं सकता। इसके लिये उपयुक्त शब्द यही और ये ही हैं। जिन शब्दोंमें भावने मूर्ति ग्रहण किया यदि वे उपयुक्त हैं, तो उनमें सन्शोधनकी गुञ्जाइश नहीं हो सकती। सफल शैलीके लिए उपयुक्तता ही सबसे बड़ी चीज है, भावके उस प्रकाशमेंसे एक शब्दका भी दूसरा शब्द उसी वजनका नहीं बैठाया जा सकता; बशर्ते कि वह अभिव्यक्ति सचमुच अभिव्यक्ति हो। जार्ज सेन्टसबरीने मिल्टनकी शैलीमेंसे ऐसे उदाहरण दिये हैं जैसे 'दि स्वार्ट स्टार स्पेयरली लुक्स।' इसमें 'स, का एक अनुप्रास है। यह आयास लब्ध नहीं, स्वतः स्फूर्त है। अतएव किसी भी रूपसे इसमें

परिवर्तन सौन्दर्यका विघातक ही होगा। यदि अनुप्रास न देकर पंक्तियाँ कर दी जाय—'दि फीयर्स स्टाररेयरली लुक्स' तो आप पायेंगे कि अनर्थ हो चुका है। स्वयं मिल्टनने प्रयुक्त क्रिया-विशेषणकी जगह 'रिंटली' देना चाहता था और देखा कि पंक्तिका गला घुट जायगा। कवितामें उपयुक्त शब्द स्वतः आ जाता है, तो युक्ति तर्कसे उसे हटाना असम्भव हो जाता है। ऐसे उपयुक्त शब्द होते भी अमूल्य हैं। संसारके किसी रत्नको उसके तुल्य नहीं समझा जा सकता। 'गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैवशंसति' जैसा कि हम कह चुके हैं, ऐसे उपयुक्त शब्द कविके निर्वाचन-कौशलसे नहीं आते, बल्कि उस विषयकी प्रकृतिमें रहते हैं, जिसका वर्णन कवि करता है, अनुभूतिसे ही वे फूट जाते हैं।

भाव और उनकी अभिव्यक्ति—अब इन्हें आप सहज भाषा कहें या नहीं कहें, भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए साहित्यको इसीकी शरण लेनी पड़ती है। सूर; तुलसीका घर-घर आदर है। सब उनकी कृतियाँ चावसे पढ़ते हैं, किन्तु यह कहना पड़ेगा, कि उन कृतियोंका आदर भाषाकी सहजतासे ही है, कमसे कम सहजका जो अर्थ लिया जाता है। विभिन्न भाषाओंमें जिन-जिन कवियोंकी रचनाएँ अमर हुई हैं, उनमेंसे एक भी ऐसी भाषा नहीं लिखी गई, जिसे तथाकथित सहज भाषा कही जा सके। शेक्सपियर, मिल्टन, गालिब, रवीन्द्र; बिहारी, एवं केशवदास ये सब अपने-अपने साहित्यके अन्यतम श्रेष्ठ कवि हो गए हैं, इनमेंसे एककी भी भाषा सीधी नहीं! कबीरकी भाषाका तो कहना ही क्या! स्वयं अपढ़ थे, पर जो लिख गये, उसके लिए पढ़े लिखे लोग भी चकराते हैं और हम यह देखते हैं कि इन सभी कवियोंका लोगोंमें आदर भी है और इनकी रचनाएँ मानव समाजके लिए कल्याणकर भी रही हैं। सच तो यह है कि राष्ट्रके मानसिक उत्थानके लिए उच्च भाव अनिवार्य हैं और उचभावकी प्रकृतिके अनुरूप साहित्यकी जो भाषा होगी, वह तो होगी सहज ही, किन्तु साहित्यिक संस्कारहीन व्यक्तियोंके लिए उसकी सहजता सहजगम्य नहीं हो सकती, न मोटे प्रयोजनोंकी भाषा ही हो सकती है। साहित्यिक सहज भाषाका उद्देश्य केवल अपने दैनन्दिन प्रयोजनोंको प्रकाश करना नहीं है। उसका काम मनुष्यको पशुताके समान धरातलसे

ऊपर उठना, उसे यथार्थ तथा मनुष्यताकी महिमासे मंडित करना है। अपने इस आदर्शकी रक्षामें कविताको बड़ी कठिन साधना करनी पड़ती है। लालको लाल कह देना और बात है, अच्छेको अच्छा कहना और बात। भलेको भले रूपमें औरोंको समझा देना आसान काम नहीं और यही कष्टसाध्य काम साहित्यको करना पड़ता है। साहित्य ही सदासे यह असाध्य साधन करता आया है, यह साहित्यकी विशेषता है। अरूपको रूप देना और औरोंको भी उसी भावमयतामें निमग्न करनेकी क्षमताने ही साहित्यका आसन विज्ञानसे ऊपर बिछा दिया है। विज्ञान सामान्य सत्यका अन्वेषण और प्रतिष्ठापक है; साहित्य असाधारणका सन्धानी एवं प्रकाशक। विज्ञान मनोविश्लेषणकी विधि और रहस्यका शास्त्र तैयार करता है, साहित्य महान् मन और रहस्यवाले मनुष्यके चरित्रकी सृष्टि कर देता है। विज्ञान शरीर-शास्त्रका प्रणयन करता है, साहित्य लावण्यमयरूपकी रचना कर देता है। विज्ञानसे हम मानव-धर्मकी मान्यताओंके अनुकूल सामान्य मनुष्यका परिचय पाते हैं; साहित्य हमें विशिष्ट व्यक्तिकी छवि तैयार कर देता है। वैज्ञानिकके मनुष्य और तुलसीके राम, कालिदासकी शकुन्तला, शरत्‌की कमलमें सामान्य और विशेष दृष्टिका ही अन्तर है, दूसरे शब्दोंमें कहें तो विज्ञानकी सृष्टि जाति-वाचक संज्ञा है, साहित्यकी सृष्टि व्यक्तिवाचक।

अरूपका रूप—रचनाकी विलक्षणता एक आवश्यक गुण है। सिद्धिकी स्वरूपामें साहित्यका तत्व निर्विशेष होता है, किन्तु साधना कालमें सृष्टि एक विशिष्ट रूप-रचना होती है। इस विशिष्टतामें ही रसोद्रेककी शक्ति निहित होती है, रुचि और आकर्षणका केन्द्र होता है। प्रभात और सन्ध्या रोज-रोजके चिरपरिचित दृश्य हैं; किन्तु प्रकृतिमें हम जिस प्रकार सन्ध्या प्रभातको देखनेके अभ्यस्त हैं, रस सिद्ध कविके परिवर्तनमें सन्ध्याकी वह सामान्य-छवि ही नहीं मिलेगी, उसमें कविके अपने व्यक्तित्वके सम्मिश्रणसे एक विशिष्टता अवश्य होगी। उदाहरणके लिए एक आलोचकने रवीन्द्रका निम्न सन्ध्या-वर्णन किया है—

'आज एइ दिनेर शेषे

:ध्या ये ओइ माणिकखानि पोरे छिलो चिक्कण काली केशे, गेंथे निलेम तारे,

एइ तो आमार विनि सुतार गोपन गलार हारे।
एकटि केवल करुण परश रेखे गेलो एकटि कविर माझे॥
तोमार अनंत माझे एमन संध्या हयनि कोनो काले।
आर हबे ना कभु एमनि करे प्रभु॥
एक निमेषेर पत्र पुटे भरि।
चिर कालेर धनटि तोमार क्षण काले लओ ये नूतन करि॥'

उपर्युक्त पंक्तियोंमें 'तुम्हारी अनन्त सृष्टिमें ऐसी संध्या और कभी नहीं हुई' तथा 'अपनी चिरपुरातन निधिको तुम इसी प्रकार एक निमेषमें फिरसे नवीन कर लेते हो' द्वारा कविने रोज-रोज आनेवाली सन्ध्याको एक विशिष्ट [illegible] किया है।

कहा है, वही उसका रूप है—साहित्यमें इसीका नाम शैली है। इस शैलीको [illegible]ने 'कविके मानस-पुत्रकी आकृति' कहा है। इसकी नकल नहीं हो सकती। शैली की नकल और चेहरे पर नकली मुखौटा पहनना एक है। कठिन हो या सरल शैली में स्वाभाविक भाषा का ही मूल्य है। कृत्रिम शैली मुँह बनाने जैसा हास्यास्पद है। भाषामें भावके उत्कर्ष प्रकटनमें भाषागत चमत्कार काम नहीं करता; क्योंकि यहाँ ज्ञान नहीं, भावका प्रकाश होता है; युक्ति नहीं, अनुभूतिको रूप दिया जाता है; बुद्धि नहीं कल्पनाका हाथ रहता है। फलस्वरूप ऐसे साहित्य प्रकारको व्याकरण-शास्त्रकी विधियों और आदर्शों द्वारा विवेचना नहीं की जा सकती। यहाँ भावग्राही उसका अलंकार होती है, रूपमयता ही उसकी धर्म संगति है—इसलिए न तो दुर्बलताको हम इसका दोष कह सकते हैं, न सुबोधताको इसका गुण। अपने उ रूपमें उसकी पूर्णता है, किसी प्रकारके परिवर्तन से उसका अंग-भंग ही होगा

ज्ञान और कल्पना—दो अनन्य शक्तियोंने ही मनुष्यको मनु बनाया है। ये दोनों शक्तियाँ सृष्टिकारिणी शक्तियाँ हैं; जिन्हें हम ज्ञान और कल्पना कहा करते हैं। ज्ञान द्वारा हममें प्रकृति और जीवनके तुलनात्मक अध्ययन तथा उसकी व्याख्या की क्षमता है और हमारी यह क्षमता है, जो वस्तु जगत और प्रकृतिके समन्वित विकास में अपनी भावनाओंको आरोपित करते है। इसलिए प्रकृति रूपमें कल्पना भी चिन्ता ही है। ज्ञान तत्वदर्शी होता है कल्पना भावावेशिनी। साहित्य चूँकि भावके भोजनसे जीवन-धारण करता है, इसलिए कल्पना ही उसका अंग है। कल्पनाकी क्रीड़ा-भूमि वह असीम शून्यता है, जो वस्तुजगत और कामना-जगतके बीचमें अगोचर रूपमें फैली है, शब्द से जिस प्रकार हम आकाशकी सत्ताको आयत्त करते हैं, वाणीरूपमें हम इसी प्रकार जीवन और प्रकृति के बीचकी शून्यताको जीवन्त करते हैं। इसीलिए साहित्यकी भाषा जरा बाँकी हुआ करती है। भावकी बोली मूलतः रूप है इसलिए साहित्यमें भाषाको रूप-सृष्टिके लिए लाक्षणिक होना पड़ता है। साधारणतया वाच्यार्थमें शब्दोंकी जो प्रकृति हुआ करती है, वह लाक्षणिकता में नहीं होती। अगोचरको स्थूल गोचररूप देने के लिए जो रूप-विधान नि[illegible] है, उसके लिए भाषाकी लाक्षणिकता आवश्यक हो उठती है। इसमें

सदा हँसनेवाला चाँद भी म्लान दिखायी देता है, फूल घूँघट खोलते हैं, बिजली काले मेघकी कनखी हो जाती है, शयनममें प्रकाश रो देता है, हरियालीमें धरती हँसती है आदि-आदि। यह और कुछ नहीं, हमारी कल्पना की क्रिया है, जो सर्वत्र हमारे अपने भावोंका आरोप करती है। प्रत्येक वस्तुमें हमारे सुख-दुःखके अनुसार रंग चढ़ाती है। प्रकृतिमें मानवताका यह आरोप हाल-सालका आविष्कार नहीं, कल्पनाके उदयकालसे ही संभवतः है। ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन ने कहा है—'भावान चेतानपि चेतनवत् चेतनान् चेतनवत्। व्यवहार यति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रया।' अर्थात् कवि अपने काव्यमें स्वतन्त्र होकर अचेतनको चेतन तथा चेतनको अचेतनके समान व्यवहारमें लाते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि चेतन पदार्थके समानके संयोजनसे अचेतन विषय भी रसमय होते हैं। इस मानवीकरणके अनेक उदाहरण पुराने काव्यों में मिलते हैं। 'उत्तर-रामचरित'में भवभूति ने लिखा है—'अपिग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्।' यानी पर्वत भी रो देता है और वज्रका हृदय भी फट जाता है। कई जगह पेड़ों और पत्थरों को मनुष्यकी तरह सम्बोधन करके बातें कही गयी हैं। अस्तु।

साहित्य संस्कारकी कमी—साहित्यमें मानवीकरणके इस व्यापारको बहुतसे लोग सहन नहीं करते, न ही वे यह मानते हैं कि इससे साहित्यका भला हो सकता है। इसपर विशेष कुछ कहनेका स्थल नहीं, किन्तु हम यहाँ इतना ही कहेंगे कि जो इस विधानका विरोध करते हैं वे व्यावहारिकतामें इसका अनजाने उपयोग भी करते हैं। वे कहते हैं—वर्षा उतरी। शून्यमें न सीढ़ी है, न वर्षाके हाथ पाँव हैं; नूपुर उसके पाँव नहीं छोड़ना चाहते—नूपुर के विचार विवेकके लिए हृदय-मस्तिष्क कुछ भी नहीं है, 'सूर्य अस्त हुआ'—सूर्य एक जड़ अग्नि पिंड है, उसमें दुख शोकको जगह नहीं। ऐसे हजारों प्रयोग सब कोई रात दिन करते हैं यह वस्तुओं पर अपने भावोंके आरोपके सिवा और क्या है? साधारण बोल चालमें भी लाक्षणिकताकी भरमार है। उसमें हम बातको पीते हैं, किसीका हाथ पकड़ते हैं, नाक-कान काटते हैं, काल काटते हैं, समयको भगाते हैं, मनको मारते हैं, सौन्दर्य को टपकाते हैं, शोभा को बरसाते हैं आदि-आदि। [illegible] में आती है तो लोग

भाव-ग्रहणमें दुर्बोधताका अनुभव करते हैं, यों साहित्य की शक्ति के अतिरिक्त साहित्यके जो गुण हैं, उनमें प्रसाद गुण यानी सहजताको ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। फिर भी साहित्यके प्रति जो यह शिकायत है, उसका यथार्थ कारण जो समझमें आता है, वह यही है कि एक तो साहित्य संस्कार ही लोगोंमें नहींके बराबर है, दूसरे भाषाकी प्रकृतिसे भी वे अभ्यस्त नहीं। साहित्यको सबके जीवनका अङ्ग बनाना है—चाहे उसको राजनैतिक उपयोगिताकी दृष्टिसे चाहे सार्थकताकी दृष्टिसे, इसलिए उसे अपेक्षाकृत सहज सरल बनाना है, किन्तु यह भाषाको बाजारू बना देनेसे नहीं होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। हाँ, ऐसी रचनाएँ जो बिना शब्दकोष और काव्य-शास्त्र को रखे समझी ही नहीं जा सकतीं, अपेक्षित नहीं हैं। ऐसी रचना भो नहीं कहलाती। जो सचमुचमें स्वयं सुलझे नहीं होते, वे ही उलझनका सा रचते हैं, जिसमें शब्दोंके गहनोंसे लदा भाषा-शरीर तो होता है, प्राण होता। किन्तु जो स्वयं सुलझे होते हैं, उनके साहित्यकी भाषा स्वयं होती है; फिर भी कभी-कभी वह भावकी प्रकृतिके कारण सीधी नहीं इसलिए सहज भाषाकी जो माँग साहित्यसे है, उसे हम इकतरफा कहें साहित्य संस्कार लोगोंमें हो, इसके लिए शिक्षाकी विस्तृत भूमि तैयार की माँग इससे भी जोरदार होनी चाहिए, उसीमें हमारा आपका और सब कल्याण है।

७—'यथार्थ और प्रतीक'

मानव-जीवनका विकास अपनी अनुभूतियों, अपने विचार तथा चिन्त से सम्बन्धित रहता है। वह जिस जीवनके स्तरपर रह रहा है, उसकी महत्ता , उसे उससे दूर ले जाती है, कुछ उन्नतिकी ओर, प्रगतिकी ओर। यथ और प्रगति उसके जीवनका आदर्श है और उपस्थित परिस्थितिय देखता हुआ, जिसमें रमता हुआ, वह आगे बढ़नेकी कामना करता है। यथार्थवाद वस्तुओंकी उस दशाका समर्थक है, जिसको या

नने सम्मुख देख रहा है, उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष वस्तु जगत है। समाज
म् जगतका कड़ुवा अनुभव, यथार्थवादका आधार है। वास्तविक जगतसे
छ दूरकी बातें, सत्यता को स्पर्श न करनेवाली अनुभूतिपर स्थित विचार
ादर्शवादका लक्ष्य है, परन्तु सत्यताके आधारपर ही तो उससे सुन्दर, उससे
धिक कल्याणकारी विचारका अस्तित्व हो सकता है, इस प्रकारसे यथार्थ-
दकी नींवपर ही आदर्शवादकी कल्पना खड़ी हो सकती है। मानव जो
छ भी अनुभव करता है, सोचता है, उसका प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण ही यथार्थ-
दी साहित्य कहा जा सकता है। इस प्रकारसे मानवकी चिन्तनात्मक प्रवृत्ति
ी ओर यथार्थवादका झुकाव अधिक है। यथार्थवादी चित्रणमें जनताके
ाधारण व्यापारकी छोटीसे छोटी प्रवृत्तियोंकी झाँकी स्पष्ट अङ्कित होती है।
समें सन्देह नहीं कि विचार मस्तिष्ककी उपज है, यथार्थवादी परिस्थितियोंका
चत्रण ही करके सन्तोष कर लेता है, परन्तु एक आदर्शवादी उन परिस्थि-
तियोंमें उनमें सुधारके लिए एक सुझाव बतलाता चलता है।

'यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मन्दिरके कँगूरेका शीर्ष यद्यपि हमसे
हुत ऊँचाईपर है और उसका लक्ष्य हमसे अत्यन्त विपरीत दिशाकी ओर
ान पड़ता है, वह हमारे हाथ आनेवाली वस्तु नहीं दिखाई देती, तथापि
सका आधार वही धरती है जिसपर हम खड़े हैं।'[1]

यथार्थका चित्रण जीवनके कगारोंको स्पर्श करता हुआ, उसीमें रमता
आ चलता है, इसका कारण है, उसकी वास्तविकताके प्रति सम्मान, अपनी
ुली हुई आँखोंसे साधारण अनुभवमें घटित वस्तुएँ ही वास्तविकताका
ाधार हो सकती हैं। उपर्युक्त उदाहरणमें मन्दिरका आधार भूमिपर ही
ड़ा है, उसे धरतीका ही सहारा है, ऐसाही यथार्थवाद है। भूमि का आधा-
ही कंगूरेके लिए निमंत्रण देता है, इसमें सन्देह नहीं कि आधार और कँगूरा
ो विपरीत छोर हैं, परन्तु सर्वोच्च शिखर अथवा छोर निम्नतर छोरपर ही
ाधारित होता है। निम्नतर छोरकी स्थूलता, कुरूपता कोई भी वास्तविक
ता ओ सत्यतासे सम्बन्धित है यथार्थवादकी चिन्तन शक्तिमें स्थान पा
कती है।

1—आदर्श और यथार्थ—पुरुषोत्तमलाल।

इस प्रकार वास्तविकवाद साधारण पाठकोंको जीवनमें होनेवाली अनेक घटनाओंकी ओर संकेतही नहीं करता, बल्कि उनका विश्लेषण भी करता चलता है। इस चिन्तनमें तीन प्रवृत्तियाँ मुख्य रूपसे कार्य करती चलती हैं—

(१) वास्तविक तथ्य, (२) जीवनकी प्रेरणात्मक शक्तियोंकी अभिव्यञ्जना और (३) सुन्दर असुन्दर, मंगल-अमंगल भावनाओंका चित्रण।

वास्तविक तथ्य से हमारा तात्पर्य उन अनुभूतियोंसे है, जो साधारण-के जीवनसे सम्बन्धित हैं। उन सम्बन्धित तथ्योंका स्पष्टीकरण, जिस रूपमें वह है, उसी रूपमें हो साहित्यमें वास्तविकताकी सृष्टि करता है। साहित्यकार देखता है कि समाज रूढ़िवादी हो रहा है, ऐसे रूढ़िग्रस्त समाजमें जहाँ पर मानवताका उचित मूल्याङ्कन[1] करके समाज ठीक राह पर चलते हुए को उचित फल नहीं देता और न्यायसङ्गत, अन्यायसङ्गत कार्योंको करके एक मानव सुख प्राप्त करता है। साहित्यकार जो देखता है, उसका चित्रण करन ही चाहे वह कैसा भी प्रकरण क्यों न हो यथार्थवाद है। यदि एक मान न्यायसङ्गत अथवा अन्यायसङ्गत कार्य करते ही सुखी होता है और साहित्य इसका विवरण दिया जाता है, तो वह साहित्यकार वास्तविक बात अथव घटना कहकर अपने उचित मार्ग पर ही चलता है। यदि देखा जाय तो वास्तविक जीवनकी विभीषिकाओंकी कल्पना एक यथार्थवादी इसीलिए करत है कि उसमें उसे अपूर्णता और असंतोषकी छाया मिलती है। वास्तवि तथ्योंका चित्रण करके वह जीती-जागती सांसारिक वस्तुओंकी रूपरेखा तो प्रस्तुत करता ही है, इसीके साथ-साथ उस वास्तविकतामें जो एक अनाचार का वर्णन होता है उसीके प्रति विद्रोह भी छिपा रहता है। जब कवि स्वार्थकी छेनी लिए लोभका हथौड़ा लिए 'मनुज'का वर्णन करने लगता है—

> स्वार्थकी छेनी लिए लेकर हथौड़ा लोभका,
> मनुजने निज पूर्ण पावन मूर्तिको खण्डित किया,
> सत्यसे आँखें फिरा, मुँह फेरकर जब न्याय से,
> तुच्छ न दूँ, पाऊँ सभी कुछ यह नियम अपना लिया।[2]

१—Idealism—Aerithcal survey by Ewing.

२—हंसमाला—नरेन्द्र पृष्ठ ३२

तो सम्भवतः उसका यही तात्पर्य होता है कि उसका यथातथ्य चित्रण जिसकी वह व्यञ्जना कर रहा है, उसके प्रति (इस स्थल विशेष पर) उसका अनुराग नहीं। मनुष्यकी यह क्रिया कि 'कुछ न दूँ पाऊँ सभी कुछ' कविको खटकती अवश्य है, वह जो देखता है, उसीका ही चित्रण कर रहा है, इसलिये वह यथार्थवादी है और उसका यह वर्णन भी सत्य है, परन्तु इसी सम्पताके पीछे उसकी वह मनोवृत्ति छिपी है कि मानवोंकी यह क्रिया दूर हो जाय। जहाँपर उसका यथार्थ, आदर्शकी ओर संकेतकर रहा है।

इस प्रकारसे वास्तविक तथ्यका चित्रण तो कविने कर ही दिया; परन्तु उस कड़ुवे घूँटसे यह ध्वनित होता है कि मानवका यह व्यापार जो आजके जीवनमें चल रहा है, उसकी संयत भावनाओंपर ठेस पहुँचानेवाली है। एक और उदाहरण लीजिए जिसमें कंगालोंका चित्रण करके कवि-वर्ग संघर्षकी ओर अग्रसित होता है। दुर्बल तन देखकर उसकी मानसिक शक्ति एक कङ्कालका रूपक खींचती है, और वह कङ्काल–उसके मस्तिष्ककी ही उपज नहीं अर्थात् काल्पनिकही नहीं, बल्कि आँखों देखी हां बात है, समाजमें ही रमकर चलते-चलते उसकी (कविकी) आँखें ठिठक जाती हैं कङ्कालको देखकर—

> भूख भूख सब ओर भूखकी लपटें, ईंधन तन दुर्बल
> किसे आज सुननेकी क्षमता; किसे आज सुननेका बल,
> हाथ बँधे, मुँह बन्द और, शिर विनाश बादल छाया
> क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता, कङ्कालोंका दल आया!
>
> —नरेन्द्र—हंसमाला!

भूखकी लपटें तनको ईंधनके समान दुर्बल बना रही हैं। वास्तविकताका चित्रण तो कवि करता अवश्य है, परन्तु इसी वास्तविकताके साथ ही साथ समाजकी गिरी दशा, किसीकी न सुननेवाले लोग, अपनी ही रागमें मस्त पदलोलुपमानवका भी चित्रण अप्रत्यक्ष रूपसे आ जाता है, इस प्रकार तो एक ही तथ्यको कहकर कविने अपनी अनुभूतिके द्वारा अनेक पार्श्वोंपर प्रकाश डाला है। यथार्थवाद एक ऐसा विन्दु है, अथवा एक ऐसा केन्द्र है, जिसके चतुर्दिक अनेकों घटनाओंसे सम्मिलित एक वृत्ताकार रेखा खिच उठती

है। कविके मस्तिष्कमें एक तथ्य कंगालका तो 'In fancy' में प्रारम्भ हुआ, परन्तु उसी एक ही शब्दमें अनेक अर्थ, अभिव्यञ्जनाएँ छिपी हुई हैं। उनका विस्तार कलाकारकी जानकारीके साथ ही साथ होता गया है कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि यथार्थवाद यह संकेत करता चलता है कि क्या होना चाहिए, परन्तु वह अपनी व्यञ्जनात्मक शक्तिसे एक ऐसा विचार (पाठक अथवा श्रोता) के मस्तिष्कमें उत्पन्न कर देता है, जिससे उसकी प्रवृत्ति तथा विचार, जिसको वह स्पष्ट करना चाहता है; अप्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष रूपसे प्रकट हो जाता है। यथार्थवादी कविका यह स्वरूप प्रशंसाके योग्य है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि कलाकार वास्तविक तथ्यको उपस्थित करके उसकी अनुपयोगिता अथवा उपयोगिता अपने आप खुले शब्दोंमें नहीं बतला देता, *कि वस्तुस्थिति अथवा निर्णयके लिए स्वयं कुछ न कहकर पाठक पर* ही छोड़ देता है।

दूसरा तथ्य यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका जीवनकी प्रेरणात्मक शक्तियोंकी अभिव्यञ्जना करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवनकी आवश्यकताओंका वर्णन ज्योंका त्यों ही करता है, उन आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए मनुष्य जो कुछ करता है अथवा (इसी सम्बन्धमें) उसके मस्तिष्कमें जो कुछ विचार आते हैं, उनका स्पष्टीकरण ठीक उसी प्रकारसे कर दिया जाता है। यशपालकी 'शैलवाला' ठीक इसीप्रकार कार्य करतीहुई देखी जातीहै! यह परिस्थितियोंसे संघर्ष करके अपने भावोंमें एक ऐसी अनुभूति उत्पन्न कर लेती है, जो समाज और साधारण मान्यताके विरुद्ध ले जाती है। उनके 'तर्कके तूफानमें' कहानीकी नायिका जो बहुत दिन तक अपने जीवनके वास्तविक पथमें अधूरी रही और स्पष्ट शब्दोंमें यदि कहा जाय तो यह कि जो अपने बीस बाईस वर्षके जीवनमें केवल अध्ययन ही करती रही। सहसा एक रातको पहाड़ी हवाओंके झोंकोंके लगनेसे कुछ आन्तरिक पीड़ाका अनुभव करती रही होगी और तभी उसे ज्ञात होता है कि जीवनका एक सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू प्रणयको उसने छोड़ ही दिया है। मैं नहीं कह सकता यशपाल कहाँ तक मनोवैज्ञानिक चित्रण करनेमें सफल हुए हैं, परन्तु रात्रिमें ही निद्रा भंग होने ही क्यों कुछ स्मरण होता है (उपर्युक्त पहलूका) त्यों ही वह उस होटलमें रुके महात्माके पास सन्तान माँगने चली

है। कविके मस्तिष्कमें एक तथ्य कंगालका तो 'In fancy' में प्र
परन्तु उसी एक ही शब्दमें अनेक अर्थ, अभिव्यञ्जनाएँ छिपी हुई
विस्तार कलाकारकी जानकारीके साथ ही साथ होता गया है कह
यह नहीं है कि यथार्थवाद यह संकेत करता चलता है कि क्या हो
परन्तु वह अपनी व्यञ्जनात्मक शक्तिसे एक ऐसा विचार (पा
श्रोता) के मस्तिष्कमें उत्पन्न कर देता है, जिससे उसकी प्रवृत्ति व
जिसको वह स्पष्ट करना चाहता है; अप्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष स
हो जाता है। यथार्थवादी कविका यह स्वरूप प्रशंसाके योग्य है।
कहा जा चुका है कि कलाकार वास्तविक तथ्यको उपस्थित कर
अनुपयोगिता अथवा उपयोगिता अपने आप खुले शब्दोंमें न
देता, कि वस्तुस्थिति अथवा निर्णयके लिए स्वयं कुछ न कहकर
ही छोड़ देता है।

दूसरा तथ्य यथार्थवादी प्रवृत्तियोंका जीवनकी प्रेरणात्मक
अभिव्यञ्जना करता है। यथार्थवादी कलाकार जीवनकी आवश्य
वर्णन ज्योंका त्यों ही करता है, उन आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए
कुछ करता है अथवा (इसी सम्बन्धमें) उसके मस्तिष्कमें जो कु
आते हैं, उनका स्पष्टीकरण ठीक उसी प्रकारसे कर दिया जाता है। य
'शेलवाला' ठीक इसी प्रकार कार्य करती हुई देखी जाती है! वह परि
संघर्ष करके अपने भावोंमें एक ऐसी अनुभूति उत्पन्न कर लेती है, ज
और साधारण मान्यताके विरुद्ध ले जाती है। उनके 'तर्कके तूफानमें'
नायिका जो बहुत दिन तक अपने जीवनके वास्तविक पक्षमें अधूरी
स्पष्ट शब्दोंमें यदि कहा जाय तो यह कि जो अपने बीस बाईस वर्षके
केवल अध्ययन ही करती रही। सहसा एक रातको पहाड़ी हवाओंके
लगनेसे कुछ आन्तरिक पीड़ाका अनुभव करती रही होगी और तभी उ
होता है कि जीवनका एक सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू प्रणयको उसने छोड़
है। मैं नहीं कह सकता यशपाल कहाँ तक मनोवैज्ञानिक चित्रण करनेमें
हुए हैं, परन्तु रात्रिमें ही निद्रा भंग होते ही ज्यों कुछ स्मरण होता है (

जाती है।[1] यह नारीका वह चित्र है जो बतलाता है, जीवनमें एक अंशकी प्रकृति कभी क्या से क्या कर डालती है। यह उस अतृप्तिका स्फोट है, जिसके झोंकेमें आ नारीकी लज्जा, संयमकी भावना और सभी कुछ उड़ जाते हैं। कहानीकार कहाँ तक इस चित्रणमें सफल है, यह तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु जीवनमें एक यथार्थ विचारका अच्छा स्पष्टीकरण है। कोई संकोचशील कहानीकार इस अवसर पर बचा ले जाता और वह केवल उसके मस्तिष्कमें प्रणयके अभावको पटककर ही रह जाता, परन्तु यशपालका निःसंकोची मस्तिष्क प्रायः ऐसी ही नायिकाओंकी रूपरेखा बाँधा करता है। उनकी शैलबाला जगतके भावों और विचारोंके प्रति एक विद्रोह करती है, दादा कामरेडसे समाजकी दृष्टिमें अनुचित संसर्ग करनेके पश्चात् जब उसका फल उसके पिताको डाक्टरसे ज्ञात होता है, तो उसे भी वह अपनी विद्रोहात्मक प्रवृत्तिसे टालनेका प्रयत्न करती है। यह यथार्थका वह रूप है, जिसको देख कर लेखक आदर्शका सब पाखण्ड भूल बैठता है, यह निस्सन्देह पाश्चात्य रियलिज्मका प्रभाव है, Mylete उपन्यासका एक पात्र ठीक इसी संघर्षके उन तरीकोंको अपनानेका प्रयत्न करता है—

"What need here is other methods of struggle strong and swift. If you really want to be useful, then step beyond the narrow limits of Common place activities any try to influence the masses atonce".[2]

ऐसे वर्णनोंमें अभी हिन्दीके कुछ ही उपन्यासकार आगे आ सके हैं। जीवनमें प्रेम और नारीके वास्तविक हृदयका दर्शन करानेका यथार्थवादी ढंग अभी कुछ ही कथाकारोंने अपनाया है। 'शेखर'में अज्ञेय भी कुछ ऐसी भावनाओंको लेकर चले हैं; परन्तु उसपर फिर भी संकोच और मर्यादाका पर्दा है। अज्ञेयकी शशि शेखरसे प्रेमके सम्बन्धमें खुलकर कह नहीं पाती है, सम्भवतः अपने संकोचके कारण, परन्तु फिर भी उसे (शशि) को बतलाना ही है, परन्तु वह जानती थी कि उसका जीवन अधिक दिनोंका नहीं,

१—'तर्कका तूफान'—यशपाल। २—Mylife Sadaje.

थोड़े दिनों तक जब तक, वह जीवित रहेगो, फिर भी कहीं-कहीं उसकी भावनाएँ अँगड़ाइयाँ ले उठी हैं। जैसे वह स्वयं अपनी 'ठोड़ी उठाती है, उसकी आँखें अर्द्धनिमीलित हैं और ओठ अधखुले, वह निश्चल बोलती नहीं और भी उसके मौनमें ही उसकी आतुरता और चिरपरिचित भावना छिपी है जो अन्तमें शेखरको बतला ही देती है कि—

'बेलेके अधखिले सम्पुटको स्निग्धतम् स्पर्शसे ही छूना चाहिए और ओठोंके निकट पहुँचते पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोड़ कर अपना कर्णमूल शशि के ओठोंसे छुआ देता है और फिर स्तब्ध किन्तु बेझिझक ओठ चूम लेता है—निर्द्वन्द, वरद, दीर्घ चुम्बन'[1]। अज्ञेयने यहाँ पूर्ण यथार्थका ही आश्रय लिया है। शशिके हृदयमें जो भी भाव शेखरके प्रति हैं, उन सभी भावोंका यथास्वरूप वर्णन करा दिया है। जीवनकी अनुभूतियोंका ज्योंका त्यों चित्रण करना ही यथार्थवादी दर्शनका उद्देश्य है।

इस प्रकारसे, यह स्पष्ट है कि यथार्थवादी जीवनको जीवनके रूपमें ही लेता है, मनुष्य गलतियाँ करता है, भूल करता है, उसके हृदयमें अनेक भावोद्रेक होते रहते हैं—साहित्यिक उन भावोद्रेकोंका ठीक उसी रूपमें वर्णन कर देता है, यथार्थकी यही व्याख्या है, वास्तविकताका यही संदेश और साहित्यकारका यही कर्त्तव्य है।

यथार्थवादके इस स्वरूपका प्रभाव अथवा दर्शन आधुनिक साहित्यमें दिखलाई देता है। आजका कवि सूक्ष्म आदर्शके विरुद्ध तो अपनी आवाज़ उठाता ही है इसके अतिरिक्त वह शून्यका गान भी नहीं चाहता, उसको अपने जीवनके ही गान प्रिय हैं, वह चन्द्रकी आभामें मुस्करा उठता है, सावनमें मस्त हो उठता है, भीनी फुहारोंके पड़नेसे सिहर उठता है, अपनी सिहरनका चित्रण भी ठीक उसी रूपमें करता है, उसे छिपाता नहीं, उसके अन्दर एक विद्रोहकी भावना, संसारके पुनर्निर्माणकी भावना हिलोरें ले रही हैं, इसका कारण केवल यही है कि उसे केवल आदर्शसे सन्तोष नहीं, अज्ञेय ने एक स्थानपर संकेत किया है—

१—'शेखर—एक जीवनी'—पृ० २४० अज्ञेय।

'आओ ! हम तुम फिर इस संसारका निर्माण करें। हम बहुत ऊँचे उठना चाहते थे, सूर्यके तापसे हमारे पंख झुलस गए, उस वातावरणमें हमारा स्थान नहीं था।'

सूर्यकी ज्वालासे जल कर, सिहर कर, भय खाकर और अन्तमें वहीं निश्चित रूपसे यह तय करनेपर कि उसे (यथार्थवादी साहित्यकारको) स्थान नहीं मिलनेका है, उसने यह कहा—

'हम अपना नीड़ पृथ्वीपर बनायेंगे।

नहीं वृक्षकी डालोंपर नहीं, वहाँ भी पवनका वेग हमें कष्ट देगा। हम अपना छोटा-सा नीड़ इस भूमिपर बनाएँगे, हमने बहुत मान किया है।'

'किन्तु भूमिपर हमारे पगपर अब वह अभिमान नहीं होगा, लोग हमें अति क्षुद्र समझकर ठुकराना भी भूल जायेंगे।

बादमें सोचते-सोचते उसके मस्तिष्कमें अपने विचारके प्रतिकूल ही एक भावना फिर दृढ़ हो जाती है, भूमिपर एक क्षुद्रतामें लीन होकर ही वह सुखी रहेगा, परन्तु बादमें—हम नीड़ ही क्यों बनाएँ ! हमें अपना स्वत्व कहने को कुछ नहीं चाहिए, हम भूमिपर रहेंगे। हम तुम और हमारे सामने यह निस्सीम संसार। जब हमारे पास कुछ भी नहीं रहेगा जो दुनिया हमसे छीन सके, तब हमारे जीवनमें विष बीज बोनेको कोई नहीं आएगा।'[1]

'अतः आओ हम तुम अपने संसारका फिरसे निर्माण करें।' 'अज्ञेय' की इन पंक्तियोंमें पहले संसारकी वास्तविक विभीषिकाओंसे पलायनकी भावना दृढ़ है, अन्तमें वह सोचता है—शून्य-बहुत ऊँचा केवल आदर्श की कल्पना उसे ठीक नहीं ज्ञात होती। इन पंक्तियोंमें एक काव्यात्मक झलक है, जिसमें कि यथार्थवादका भविष्य बोल रहा है, काडवेलके शब्दोंमें यही कवि अथवा उपन्यासकार जीवनसे टक्कर खा आगे बढ़ता है, यह वही अवस्था है—

Thus the poet was forced by life i. e. by his expicrience to concentrte just those words and organising

---

१ चिन्ता-विश्वप्रिया पृष्ठ ९६-९८।

values which were becoming steadily less meaningful to a man as a whole.

यथार्थवादका यह स्वरूप है जो आजके साहित्यमें निखर रहा है, इसका स्वरूप अधिक व्यापक हो जाने पर प्रतीकवादसे सामञ्जस्य करता हुआ दिखलाई देता है।

अस्तु यदि यथार्थवादकी परिभाषा करें, तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह जीवनके अधिक निकट है, उसमें जीवनके स्वस्थ नियमोंकी मात्रा अधिक रहती है, परन्तु थोड़ा आगे बढ़ने पर हम यथार्थवादके साथ खिलवाड़ करते हुए कुछ साहित्यिकोंको पाते हैं, वे कभी-कभी विकृति और असंतुलित चरित्रोंकी गाथा गाया करते हैं, इन आदर्शवादियोंका यह आक्षेप हुआ कि 'उन्होंने हमें स्वस्थ और अधिक यथार्थ वस्तुओंको देनेकी योजना बनाई थी, परन्तु इसके स्थान पर उनके द्वारा आज हमें असंयत भावनाएँ ही मिल रही हैं। इन भावनाओंका संयत होना अथवा न होनेका क्या आधार है? उसपर प्रकाश डालना यहाँ अभीष्ट नहीं, इसलिए उसके विषयमें ज्यादा कहना उचित नहीं। संक्षेपमें यथार्थ एक (Objective space) चाहता है, वह कटु सत्यको नहीं छोड़ना चाहता, परन्तु उसका विकृतरूप ही वह त्याग देता है, यथार्थकी इसी रुचिने साहित्यमें कुछ (कहीं-कहीं पर) अरुचि उत्पन्न कर दी—उसी अरुचिके फलस्वरूप एक दूसरा रूप जो यथार्थवादी चित्रणने ग्रहण किया, वह है प्रतीकवाद (Svmbolism) और प्रभाववाद (Impressionism) इन वादोंके अन्तर्गत वही यथार्थवादकी ही आत्मा है। इनमें वही ध्वनि है, जो सँवारी गई है। यथार्थकी कटुवाहटसे ऊबकर यथार्थवादी साहित्यिकोंने इन दो वादोंको ही एक नवीन चोला दिया है, एक नवीन शरीर दिया है। यद्यपि उस शरीरमें प्राण बोलते हैं यथार्थके ही। मायर्सके अनुसार वास्तववादने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तारको अधिक अर्थ गर्भित बनानेके लिए प्रतीकवादका रूप धारण कर लिया। जहाँ तक हिन्दी-साहित्यसे सम्बन्ध है, वहाँ कठोर यथार्थकी उपासना अभी कुछ ही दिनोंसे होनी प्रारम्भ हुई है, परन्तु अंग्रेजी साहित्यके यथार्थवादियोंकी तरह यहाँके यथार्थवादी भी कुछ विकृत वस्तुओंकी कल्पना करने लग गए हैं, साथ ही

साथ यथार्थवाद की कड़ुवाहट भी कुछ लोगोंको खल रही है, यद्यपि वह कड़ुवाहट तीखी न लगनी चाहिए हाँ, यदि उसमें सचमुच सत्य और वास्तविक वस्तुओंका प्रचार है। फिर भी आजके ये वाद (प्रतीकवाद, अभिव्यञ्जनावाद, प्रकृतिवाद) आदि सभी इस यथार्थकी कड़ुवाहटसे ही प्रेरणा लेकर निकले हैं। उनकी कड़ुवाहट केवल कड़ुवाहट भर कहीं-कहीं रह गई हैं, उनकी रचनाओंमें वास्तविकता तो कम, परन्तु उस वास्तविकताका प्रदर्शन अधिक मात्रामें हो गया है। यही प्रदर्शन ही साहित्यकी घातक शक्ति है।

इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं यथार्थवादके नाम पर कविताके वास्तविक गुणोंकी हत्या की जाती है। कविताके लिए शब्दोंका प्रभावोत्पादक (forcible) होना अत्यन्त आवश्यक है। यथार्थवादकी कड़ुवाहटका जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमें एक ईमानदार आलोचकको कोई विरोध न होना चाहिए, आजका जीवन कालान्तरका जीवन भी जिसमें सम्मिलित है, इतना कड़ुवा है, इतना संघर्षमय है कि उसकी ज्वालासे दूर कलाकार जा ही नहीं सकता, यथार्थवादी लेखकोंकी आलोचना करते-करते एक आलोचकने लिखा है।

"कभी-कभी यथार्थवादी लेखक तुच्छसे-तुच्छ और अनावश्यक बातोंका भी ऐसा चित्रण करता है कि काव्यका प्रभाव फीका पड़ जाता है"।[१] जहाँ तक काव्य-प्रभावका सम्बन्ध है, यह अवश्य उचित है कि उसकी गति मन्द न होने पाए, काव्यमें गति और शब्दोंमें प्रभावोत्पादकता (Flow and impressionism in words) अवश्य ही आवश्यक है। काव्यका आधार यदि तुच्छसे तुच्छ है, तो उस तुच्छतासे क्या विरोध? तुच्छताको भी सत्ता है, जीवनमें 'तुच्छता' नीचता-ऊँचता सभी तथ्य हैं। काव्यकारका ध्येय उन तुच्छताओंसे आँख मूँद लेना नहीं है, वह तुच्छता और उच्चता दोनोंका चित्रण कर सकता है, यदि यथार्थ में तुच्छताका चित्रण होता है, तो इसका अर्थ यही कि वह वास्तविकताकी ओर अधिक उन्मुख है, तुच्छतासे हो

---

१ काव्यमें यथार्थवाद नामक अंशमें आदर्श और यथार्थ पृष्ठ १५०—
—श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव।

काव्यका प्रभाव फीका नहीं पड़ता। यह कविका व्यक्तित्व है, कवि की सजग आत्मा है, जो काव्यमें गति लाकर उसे सर्वप्रिय बना देती है। रूप और विषय वस्तु दोनों ही निष्प्राण हैं, प्राणवान है, कविका कवित्व। वह अपनी चेतनासे स्पर्श करके उनमें भी गति ला देता है। एक सच्चे यथार्थवादीके काव्य अथवा कृतिमें,

Every truth is lined up with every thing else. Each phenomenon shows the polyphony of many components the interwinement of theindividual and the soeial, of the physical and the psychical of private interest and public affairs.[1] यथार्थवादी लेखक समाजके अन्तरंगको स्पर्श करनेकी चेष्टा करता है, वह देखता है कि किसी वस्तु अथवा रीतिके पीछे कौन-सा आधार है। जब उसे उस आधारकी अशक्त और रूढ़िगत भावनाओंका आभास हो जाता है, तो वहीं पर उसका अन्तर चीत्कार कर उठता है, उस वस्तुस्थितिमें यह नहीं देखता अथवा देखना उचित नहीं समझता कि यह तुच्छ है अथवा उच्च। वह तो अपने हृदय-पट पर पड़नेवाली छायाका चित्रण करता है, उसी धूमिल रेखाओंको वाणी देता चलता है, उसे इससे क्या तात्पर्य कि यह छाया तुच्छ है, अथवा अतुच्छ। यदि छाया अतुच्छ है, तो समाजकी यह बुराई है, रूढ़-ग्रस्तता है; उस पर आदर्शका पर्दा नहीं डाला जा सकता।

प्रतीकवाद—छायावादकालकी आधुनिक साहित्यको सबसे बड़ी देन भावोंकी सूक्ष्मता थी। प्रत्येक भाषामें प्रायः ऐसे शब्द रहा करते हैं, जिनसे केवल ऊपरी अर्थका ही बोध नहीं होता, बल्कि उस शब्दका उच्चारण करतेही एक रेखासी हमारे स्मृतिके समक्ष आ जाती है। यह तो प्रायः सभी शब्दोंके उच्चारण करनेपर उसके अर्थ समझनेवालेके समक्ष वही स्वरूप आ जाता है। साधारण सा शब्द भी यदि ले लिया जाय, तो उसका अर्थबोध इसी रूप

१. Russian democratic literary criticism, by Dobrolynbov pp. 457,

में होता है। इसका कारण है कि उस शब्दके पीछे एक ऐसी रूपरेखा निश्चित कर दी गई है कि वह प्रत्येक व्यक्तियोंके समक्ष उसी शब्दके उच्चारणके साथ-साथ ही आ जाती है। एक साधारण सा शब्द ले लें—'गाय'का उच्चारण करनेवाला व्यक्ति भी समझता है कि वह एक ऐसे जानवरके विषयमें बातचीत कर रहा है, जिसके चार पैर, एक पूँछ आदि-आदि हैं। यह तो साधारण सा शब्द बोध है। परन्तु कहीं-कहीं पर ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनके पीछे एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, अथवा कुछ 'कल्पित सत्य'का आधार है। जिन शब्दोंपर सांस्कृतिक प्रभाव होता है, वे शब्द ठीक प्रतीक का कार्य करते हैं। छायावादी रचनाओंको यदि हम लें, तो 'मधुमास', 'मधु' आदि शब्दोंका प्रयोग बहुतायतसे मिलेगा। इन शब्दोंकी यदि हम मनोवैज्ञानिक व्याख्या करें, तो यह ठीक प्रतीत होगा कि मधुमासके पीछे एक सुख, यौवनका पूर्ण विकास, और बिखरा हुआ सौन्दर्य आदि की भावना होती है। ये शब्द अथवा यह भावना मधुमाससे सम्बन्धित किस रूपमें है। मधुमास सचमुच प्रकृतिका वरद मास है, जिसमें पल्लव हरे-भरे होकर झूम उठते हैं, पुष्पोंकी सुरभि वातावरणमें अनुपम सुगन्ध पैदा करती चलती है। मधुमासमें ही इन भावनाओंका विकास सन्निहित है, कवि इस शब्दका प्रयोग करके अपने पाठकोंको उसी चिन्तन-भूमिपर खींच ले जाना चाहता है। अतएव 'मधुमास' ही प्रतीकात्मक प्रयोग कहा जा सकता है।

इस प्रकारसे भावोंकी प्रतीकात्मकता ही प्रतीकवादमें अपना प्रमुख स्थान रखती है। फ्रांसीसी साहित्यमें Symbolism अथवा प्रतीकवाद मेकआर्थरके अनुसार An attempt to break away from the realists zla etc. who aimed above all things at being precise, at saying ...so completely that nothing remained which it might be the business of the reader to derive....''†

इस प्रकारसे प्रतीकवाद मेकआर्थरके अनुसार संचित प्रयोगोंकी ओर संकेत करता है। यदि देखा जाय तो प्रमुख वस्तु अथवा आधार हम, इनको—

†, Symbolism—by Mac

शब्दोंकी व्यञ्जना,—(क) भावोत्पादक, (ख) विचारोत्पादक—ही कह सक हैं। शब्दोंकी व्यञ्जनाके साथ ही-साथ भाव और विचारका भी समावेश श में होता है। कहीं-कहींपर काव्यमें ऐसे स्थल आ जाते हैं, जब कवि अपन बात कहनेके लिए 'विशेष प्रचलित शब्दोंका' आश्रय ग्रहण कर लेता है विशेष प्रचलित शब्दोंसे मेरा तात्पर्य उन उपमाओंसे है, जिनका अर्थ ए परम्परामें बँध कर चल रहा है, यदि उसी अर्थका स्पष्टीकरण कविका अभी होता है, तो उनका उक्त स्थलपर प्रयोग कर वह उद्देश्यमें प्रायः सफलत प्राप्त करता है।

'मुख कमलके समान है' कहनेका तात्पर्य यही होता है कि मुखकी सुन्द रता कमलवत् है, जिस प्रकारसे कमलमें सुन्दरता, कोमलता आदि गुण होते हैं, उसी प्रकारके तत्व एक कमलवत् मुख समझे जाते हैं। 'शब्द-व्यञ्जना'क यही स्वरूप है, जिसको अंग्रेजी साहित्यमें Phantasia of words के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकारसे यह देखा गया कि कमलके समान मुख कहनेसे प्रायः दो बातोंका साथ-ही साथ उदय हुआ, पहला तथ्य 'भाव' और दूसरा 'विचार'। प्रत्येक भावोत्पादक अर्थोंमें तो विचारका कुछ न कुछ अंश छिपा ही रहता है, भाव मस्तिष्कपर बाह्य-वस्तुओंकी प्रतिक्रिया स्वरूप पैदा होता है और विचार-मीमांसाकी वह शृङ्खला है, जो बाह्य-वस्तुओंके (मस्तिष्कपर पड़े हुए) प्रभावको मस्तिष्ककी स्थितिसे जोड़ती है। कमलके सौन्दर्यका भाव जाग्रत हुआ, परन्तु इस सौन्दर्यके भावके पीछे कमलकी एक रूपरेखा पहलेसे ही मस्तिष्कमें निश्चित हो चुकी थी, उसी रूपरेखाके आधार पर कमलका सम्पूर्ण सौन्दर्य निश्चित है। कविके मस्तिष्कमें कोमलताका यही स्वरूप जब घर कर लेता है, तो अपनी चिन्तनशक्तिसे वह अपने समस्त प्रयोग पर इसीका मुलम्मा चढ़ा देता है, वही मुलम्मा चढ़ा हुआ सत्य, एक जागरूक और चिरन्तन सत्य हो जाता है। संक्षेपमें यही प्रतीकात्मकताका अर्थ है।

भावोत्पादकप्रतीक—साहित्यकारकी कलामें भावों और विचारों दोनोंका सन्निवेश आवश्यक है। यद्यपि दोनों तथ्य एक दूसरे पर ही अवलम्बित हैं,

फिर भी जिस स्थल पर भावोंकी मधुरता हो जाती है और विचार गौण रहता है, वहाँ भावोत्पादकप्रतीकवादकी ध्वनि होती है—

'मुख कमल समीप खिले थे, पुरइन के दो किसलय से।'[1]

इन पंक्तियोंमें कवि अधिक भावुक है, विचारक कम। कमलवत मुखके निकट उसने पुरइनके दो किसलयको खिलाया है, उसकी भावधारा एक अविच्छिन्न सौन्दर्य राशिसे टकराती हुई चलो, यहाँ कलाकारका वह स्वरूप है, जो अपनेको भाव जगतके निकट पाता है, एक और उदाहरण लें—

'संध्याको मिलन प्रतीक्षा, कुछ कन चलती मनमानी।
ऊषाकी रक्तिम आभा, कर देती अन्त कहानी॥'[2]

सन्ध्या और ऊषा कविकी भावनाओंको बाँध करके स्थित रहनेवाले दो कूल हैं। सन्ध्यामें अपने भावोंका उद्गार, एक सिहरन सी उसे (कविको) ज्ञात होती है, परन्तु उसके सम्पूर्ण जिज्ञासाओंका अन्त कर देती है।

'तुम्हारी आँखोंका आकाश, करुण आँखोंका नीलाकाश।
खो गया मेरा खग अनजान, मृगेक्षणि! मेरा खग अनजान॥'[3]

'आँखोंका आकाश भावोत्पादक प्रतीकसे भरा पड़ा है। कवि अपनी प्रियतमाके नेत्रोंको अत्यन्त विस्तृत, और आकर्षक पाता है। उसकी नीलिमामें कविका खग खो जाता है, यदि राहसे परिचित खग होता तो राह भी पा लेता, परन्तु वह अनजान है। आकाशकी शून्यतामें उसका एक अस्तित्व खो जाता है। सब कहनेका निचोड़ यही है कि कविकी प्रियतमाकी आँखें नीली हैं—आकाशकी भाँति, उसका मन उसीमें रमा हुआ है। केवल इन्हीं तथ्योंको लेकर कविने इन लावण्यिक शब्दोंको एकत्रित किया है। भाव-जगतका एक सुन्दर उदाहरण यह पद हो सकता है।

प्रतीक किसी भावको स्पष्ट रूपसे प्रकट करता है। भावोत्पादक प्रतीकमें एक सिहरन, स्पन्दन और स्फुरणकी प्रधानता रहती है। हृदयतत्व इतना प्रमुख रहता है कि कविकी सर्वस्व कृतिमें केवल भावनाही भावना अपना स्थान रखती है। कवि 'पन्त' की पहिलेकी कुछ रचनाएँ जैसे वीणा, पल्लव, ग्रन्थि

१—आँसू—'प्रसाद', २—आँसू—'प्रसाद', ३—ग्राम्या—'पन्त'

इसी स्तर पर रखी जा सकती हैं। उसने इन रचनाओंमें केवल भावनाके ही गीत गाए हैं। अधिकतर ऐसे भावोंका उद्गार कविने प्रकृतिको अवलम्बन स्वरूप मानकर किया है। एक उदाहरण और लीजिए—

> सृजन जिसका था हुआ मृदु पाँखुड़ीकी ओटमें,
> गान जिसको मिल गया इस क्रूर जगकी चोट से!
> भ्रमरके गुञ्जारसे ही राग जिसने जान पाया,
> धधकते अङ्गारसे ही वेदना पहिचान पाया॥
> फूल पर हँस खेलता था, शूल पर डाला गया हूँ,
> मैं ऊषाकी गोदमें पाला गया हूँ!![1]

कविका सृजन (लालन-पोषन) 'मृदु पाँखुड़ीकी ओटमें' हुआ है। उसने ऊषाके क्रोड़में क्रीड़ा किया है, अर्थात् उसके बचपनका जीवन बड़ा ही मधुर रहा है, सुखपूर्वक बीता है। उसने राग भी 'भ्रमरके गुञ्जारसे' पाया है, यही कारण है कि उसके रागमें कितनी तन्मयता है, परन्तु जग और जीवनसे दूर अपनेमें संकुचित रहनेकी भावना है। रेखाङ्कित शब्दोंमें भावात्मक प्रतीकात्मकताकी एक छाया दीख पड़ती है। कवि अपने समस्त जीवनकी रूपरेखा तो अवश्य खींचता है, परन्तु उसमें उसकी भावना और कहीं-कहीं अतृप्त वासनाकी मलिन छाया झाँक कर देख लेती है, अपने सम्मुखके संसारको वह इसी निष्कर्ष पर देखता है कि 'फूलपर हँस खेलता था, शूल पर डाला गया हूँ' वह पहलेके जीवनमें फूल पर हँस हँस कर खेलता था क्यों? इसका कारण भावुकतासे दबा रहता है, वह (कवि) केवल इतना ही जानता है कि अब और तबमें अन्तर है, क्योंकि पहले वह फूल पर था अब शूल पर है। पहलेकी सुविधायें जीवनकी मृदुलताओंका अच्छा चित्रण है और साथ ही-साथ आजके जीवनकी कर्कशता एवम् कठिनाइयोंसे ओत-प्रोत होनेकी भावनाका भी उद्गार है। भावोत्पादक प्रतीकवादका यह उचित उदाहरण जान पड़ता है।

भावोत्पादक प्रतीकवादके अतिरिक्त कहीं-कहीं छायावादीकालमें ही

१—'ऊषाकी गोद'—('मातृ भूमि' में प्रकाशित नवम्बर ४७ ई०)।

विचारोंका प्राबल्य और भावोंकी अधीनता दिखलाई पड़ती है, कुछ ऐसे शब्द हैं, जिसमें केवल भावना ही शब्दार्थको प्रगट नहीं कर देती, विचार भी उसमें अपना स्थान रखते हैं। उदाहरणार्थ 'साँप, शब्दको ले लें, इस शब्दके पीछे भावनासे अधिक विचार कार्य कर रहा है, साँपके विषकी उग्रता उसका रेंगना आदि सभी वस्तुएँ एक-एक करके मस्तिष्कके विचार शृङ्खला को बढ़ाती चलती हैं। साँप शब्दमें भावसे अधिक विचार है। पन्तजीकी 'प्रिये प्राणोंकी प्राण'से उदाहरण लें—

"अरुण अधरोंका पल्लव प्रात, मोतियों-सा हिलता हिम हास।
इन्द्रधनुषी पटसे ढक गात, बाल विद्युतका पावस लास॥
हृदयमें खिल उठता तत्काल, अधखिले अंगोंका मधुमास।
तुम्हारी छविका कर अनुमान, प्रिये! प्राणोंकी प्राण॥"

यह उदाहरण भावोत्पादक और विचारोत्पादक प्रतीकका मिश्रित उदाहरण है। 'पल्लव, प्रात, और 'हिमहास, तो भावोत्पादक प्रतीकके उदाहरण हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त 'मोतियों सा हिलना' 'इन्द्रधनुषी पटसे ढँक गात' आदि उदाहरणोंमें एक विचार शृङ्खला चल रही है' भावनासे अधिक विचारोंका ही प्राबल्य है। 'मोतियों सा हिलकर' मे विचारकी प्रधानता तक मुझे अधिक प्रतीत होती है। मोतियों-सा यदि हास होता तो उसमें भावकी प्रधानता अवश्य होती, परन्तु मोतियों-सा हिलनेमें, एक हिलनेकी सूक्ष्म-रेखा मस्तिष्क-पटलपर खिंच उठती है, यह विचारकी द्योतक है। इसी प्रकारसे 'इन्द्रधनुषीपटसे ढँक गात'में भी एक रोमांटिक झाँकी है। सतरँगे पटसे जो गात ढँका रहेगा, उसमें कितनी सुषमा और सौन्दर्य होगा। गात पटके भीतर झिलमिलाता सा प्रतीत होगा। इन सब भावनाओंके पीछे एक दृढ़ एवं स्वस्थ विचार है। इन शब्दोंसे भावनाओंका उदय तो अवश्य होता है, परन्तु उस रूपात्मकताका प्रभाव प्रवाह विचारोंके द्वारा ही पुष्ट होता है। जब (अन्तिम पंक्तियोंमें) कवि छविका अनुमान ही करना प्रारम्भ करता है, तभी एक विचार और उसके पीछे भावका उदय होता है। छविकी तुलना वह यदि प्रस्तुत विधानोंके द्वारा कर देता, तो भावका उदय पहले होता विचारका बाद में। परन्तु अप्रस्तुत विधानोंके द्वारा पहले वह चिन्तन करता

है, 'मोतियोंका हार', 'इन्द्रधनुषी पट', 'बाल-विद्युत' और तब निन्दनके पश्चात् इन सभी रूपोंका मिलकर एक रूप हो जाता है, जो उनके प्रियकी कल्पनामें योग देने लगता है। विचारोत्तादकका यह उदाहरण उचित प्रतीत होता है।

भावनाओंके पीछे ही प्रतीकात्मकता छिपी रहती है। देशकी संस्कृति रिवाज और प्रचलित रूढ़ियोंके अनुसार ही प्रतीककी भी सृष्टि होती है। भारतीय दृष्टिसे देवनमें गोवर लिपा हुआ स्थान शुद्धताका प्रतीक है, आँगन-में रचा गया चौक एक विशेष त्योहारकी व्याख्या करता है। यदि देखा जाय तो भारतीय जीवन ही पूर्ण रूपसे प्रतीकमय है। बुन्देलखण्डी स्थानोंमें प्रत्येक घरके द्वारपर प्रातःकाल गोवरके चौक दिये जाते हैं, जिस प्रातमें ये चौके द्वार पर ताजे लिपे हुए न पाये जायँ, वह प्रात अशुभ प्रातकी (उस घरके लिये) होगी। प्रायः घरमें कोई देहान्त हो जानेके पश्चात् गोवरका चौका नहीं दिया जाता। इस प्रकारसे झाँसीका प्रतीक उस स्थानकी परि-स्थितियोंसे मिला हुआ है। मुसलमानी साहित्यमें प्रणयकी मधुरताको दिखलानेके लिए शराबका प्रयोग किया जाता है। भारतीय दृष्टिसे शराब वर्जित है, अतएव यहाँके साहित्यमें शराबका चित्रण प्रणयकी रात्रिमें नहीं किया जाता।

कहनेका तात्पर्य यह कि प्रतीकका अपनी, संस्कृति और आचरणके विपरीत कोई भी स्वतन्त्र स्थान नहीं है। एक देश या राष्ट्रकी प्रचलित रीति ही उस देशके कवियोंकी कल्पनामें अपना एक विशिष्ट छाप छोड़ देती है। इसका कारण है कि कवि उसी वातावरणमें रहनेका अभ्यस्त है, कल्पना का कुछ आधार होता है, निराधार कल्पना हो ही नहीं सकती। वही आधार है उस देश, काल और संस्कृतिका। भारतीय कवियोंके लिए ऊषा और सन्ध्याका चित्र सदासे आकर्षित रहा है, ऊषामें रात्रिके समान विपरीत भावनाओंका ह्रास और निकलते प्रभातके समान एक रहस्य भावनाका उदय पाया जाता है। सन्ध्याका भी हमारे साहित्यमें अपना एक विशिष्ट स्थान रहता है, हमारा सौन्दर्यवादी कवि उसमें भी सौन्दर्यकी छाया देखता है, परन्तु ठीक इसके विपरीत "यूरोपीय काव्यमें थोड़ी देर तक उगनेवाली

धूपसे आनन्द तथा संध्यासे उदासीका संकेत होता है।" इसका कारण है—भारत सदासे सौन्दर्यका उपासक रहा है, उसने सौन्दर्य देखा। उदासीमें भी एक सौंदर्यकी आभा हमारा साहित्य देखता आया है। यद्यपि यह स्वरूप (कवियोंका) इधर कुछ बदता हुआ प्रतीत होता है। उन्होंने अपनी आत्माभिव्यक्तियोंको अपने व्यक्तिगत भावोंमें बाँधनेकी चेष्टा की है. यदि वे दुखी हैं, तो सम्पूर्ण प्रकृति दुःखमें दिखलाई देगी, यदि वे सुखी हैं, तो संपूर्ण प्रकृति सुखमें ही हिलोरें लेती रहेगी। इसके अतिरिक्त ऊषा और संध्या सभीको प्रसन्न करती हुई दिखाई देती है। अन्तमें प्रतीकवादकी व्याख्या करते समय हम यही कहेंगे—

Symbolism is the study of the part played in human affair by Language and symbols of all kinds and especially of their influence on thought.

प्रतीकके पीछे एक निश्चित भावधाराका स्रोत छिपा रहता है, उस स्रोत को भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वह उस स्थान विशेषकी संस्कृति पर ही निर्भर रहता है। अतिरेक शब्दोंकी ध्वनि, कविके अन्तर्तमसे निकली हुई अनुभूतियोंमें मिलकर एक स्पष्ट और व्यञ्जनात्मक रूपको (साताके) सम्मुख ला देती है—अज्ञेयके एकायनसे एक उदाहरण लें—

'मुझको कैसे घाट बसेरे,

खड्ग धारकी राह बनाकर, पास आ रही हूँ मैं तेरे।'

जहाँ तक शब्दोंकी व्यञ्जनात्मकका तात्पर्य है, 'खड्ग धारकी राह' और 'घाट बसेरे' इस पंक्तिके ये केवल दो शब्द ही उसके लिए पर्याप्त हैं। 'खड्ग धारकी राह' से कविका तात्पर्य राहकी दुरूहतासे है, परन्तु राहकी ऐसी दुरूहता उसके लिए कोई दुरूहता नहीं, क्योंकि ऐसी कठिनाइयों और ऐसे ऊबड़-खाबड़ पथसे आनेका तो वह अभ्यस्त है, इस भावनाका स्पष्टीकरण 'मुझको कैसे घाट बसेरे' से होता है। इन शब्दोंका एक रूपात्मक प्रयोग है।

अतएव प्रतीकात्मक प्रयोगोंको जब विशेष चिन्तन-धारासे हम सम्ब-

निश्चित कर देते हैं, तो उन्हीं विचारोंके अनुसार हम प्रतीकके निम्नलिखित भाग भी कर सकते हैं—

(१) भावात्मक प्रतीक, (२) राष्ट्रीय प्रतीक और (३) दार्शनिक प्रतीक।

ऊपर 'शब्दोंकी व्यञ्जनाकी चर्चा करते समय भावोत्पादक अथवा भावात्मक और विचारात्मक प्रतीक पर सोचा जा चुका है। राष्ट्रीय प्रतीकसे तात्पर्य, भावके पीछे-छिपी हुई राष्ट्रीयताका प्रदर्शन ही है। विभिन्न दृष्टिकोणोंको सम्मुख रखते हुए तथा उन दृष्टिकोणोंपर विचार करते हुए हम यही कहेंगे कि प्रत्येक युगका अपना कुछ चुना हुआ प्रयोग रहता है। रीतिकालीन-साहित्यको यदि हम लें, तो कमलका तात्पर्य–सौंदर्यवान् मुखसे, बाणसे तात्पर्य नेत्रोंके नुकीले कोरसे, प्रायः समझा जाता था। छायावादी कालमें ऊषा, मधुमास और मधुहास आदि प्रतीकोंका प्रयोग किया गया। आजके प्रगतिवादी साहित्यमें, इसकी संस्कृति और आदर्शके साथ ही साथ इसके प्रतीकात्मक प्रयोग भी बदले, भावोंका समाजीकरण प्रारम्भ हुआ, और साहित्यकार अपने भावोंको सामाजिक स्तर पर लाने लगा। अतएव आजके भी कुछ प्रतीक अलग हो गए और उनके प्रयोगके साथ ही साथ एक निश्चित अर्थ समझा जाने लगा। एक ऐसा ही उदाहरण है 'जोंक'। पूँजीपतियोंके अन्दर जो सर्वहारा वर्गके शोषण करनेकी प्रवृत्ति है, उसी शोषणसे सम्बन्धित और एक विशिष्ट भावधारासे निर्मित हो आजका शब्द 'जोंक' प्रचलित हो उठा। राहुलके साहित्यमें इस शब्दकी व्यञ्जनात्मक शक्तिका अच्छा प्रयोग मिलेगा। इस प्रकारसे हम देखते हैं कि 'प्रतीक' एक निश्चित भावधाराकी ओर सङ्केत करता चलता है। मस्तिष्कके केन्द्रसे उठकर जो भावनाएँ समाजमें व्याप्त हों, समस्त विचारोंसे जब एकीकरण (Assimilation) कर उठती हैं, तब वे ही भावनाएँ शब्दकी सीमामें बँध करके उस युगके प्रतीकके रूपमें परिवर्तित हो जाती हैं।

प्रतीककी उत्पत्तिके पीछे सांस्कृतिक और सामाजिक चिन्तन भावनाओंके साथके अतिरिक्त जहाँ दार्शनिक चिन्तन अभिप्रेत हो, वहाँ दार्शनिक प्रतीक कहा जा सकता है। जहाँ साहित्यकारका सम्बन्ध उसकी इन्द्रियगत अनुभूतियोंसे उठकर मस्तिष्कके स्तर तक आ जाता है, वहाँ उसी स्तर पर दार्श-

निक प्रतीकोंकी उत्पत्ति होती है। मानवका मानसिक पक्ष सदा हृदयगत अनुभूतियोंसे परे ही सोचता है, 'शव' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए एक स्थानपर उसे 'जड़ और चेतनका क्षीण ह्रास' कहा गया है।[१] शवके पीछे जब कवि सोचते सोचते दो मिश्रित तत्वोंका समावेश पाता है, तब उसे उसकी क्रियामें जड़ और चेतनका एक क्षीण ह्रास मिलता है, जड़ इसलिए, क्योंकि वह निष्प्रभ, शान्त और क्षीहत है। चेतनका क्षीण ह्रास इसलिए, क्योंकि ह्रासकी क्षीणताको ही गिरती हुई दशा वह (कवि) उस विकास (जीवन) के पश्चात् ही 'शव'में देखता है। अतएव इस पंक्तिके 'क्षीण ह्रास'में ही प्रतीकात्मकता है, जिसका अर्थबोध हृदयकी अनुभूतियोंसे ऊपर मस्तिष्ककी सतहपरसे ही होता है।

इसके अतिरिक्त प्रतीकात्मकताको स्पष्ट करनेके लिए उसकी पृष्ठभूमिपर भी दृष्टि डालनी होगी, ध्वन्यात्मकता (प्रतीक) के पीछे शब्द शक्तियाँ भी कार्य करती हैं, वे ही शब्द जो एक मानवका विचार दूसरे मानवको स्पष्ट करा देते हैं, उन्हींकी शक्तियाँ जब कतिपय संस्कृति और परम्पराके विचारको ले आगे बढ़ती हैं, तो उन्हीं शब्दोंकी ध्वनि ही अधिक मुखर हो श्रोताओंके लिए प्रतीकका कार्य कर देती हैं। ऐसे प्रयोगोंके लिए रिचार्ड्सके शब्दोंको समझा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

The power of words is the most eanservative force of our life. The common is herited scheme of conception which is all around as native air, is none the less imposed upon us. and limits our intellecnal move ments in countless ways-in very launguaze are much

---

१—'शव' शीर्षक कविता—

यह जड़ चेतनका क्षीण ह्रास !
जीवनकी सारहीन सीलका नाचक मृण्मय यह शरीर,
आत्माके पंख पसार उड़े स्वच्छन्द गगनमें बन समीर।
यह ध्वंस सृष्टिकी एक आस !

use to exparess the vere simplash it is adopted and assimlated lee fore we can so as begines to think for our selves at all. शब्द शक्तियाँ सचमुच Native air की भाँति सर्वत्र फैली हैं। उनमें वही गति है, वही प्रवाह है, वही जीवन-दायिनी शक्ति है (वायीकों) जो वायुमें, विशेषकर जब वह स्वदेशीय हो। एक प्रान्तीय भाषा-भाषी जब अपने शब्दोंका उच्चारण करता है, तो उसके मस्तिष्कमें ठीक उन शब्दोंके अनुकूल ही एक सजग वृत्ति रहती है, जो समस्त[1] उन्हीं वृत्तियों को समेटकर उस शब्दमें ही रख देता है, शब्दोंका गठन, उसकी रचना, मानवोंकी प्रवृत्तियोंके अनुसार ही रही हैं। जैसा मानवने प्रतीत किया, उसके मस्तिष्कमें जब जैसी ही भावनायें आई, उसने तदनुकूल उसकी रचनाकी। कवि पन्तका उदाहरण लें, प्रभात, का प्रयोग प्रचलित रूपसे पुलिङ्गमें ही होता आया है, परन्तु वे, 'अरुण पल्लवकी कोमल पाव' का प्रयोग करते हैं। शब्दकी यदि व्यञ्जक शक्तियों पर विचार किया जाय, तो प्रातके लिए कविका स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग, कविके विचारोंके अध्ययनका अच्छा अर्थमय सूत्र है। ठीक उनके शब्द तो नहीं, परन्तु 'प्रभाव' के स्त्रीलिङ्गमें प्रयोग करनेके लिए उनके विचार कुछ ऐसे ही हैं कि उन्हें प्रभातमें सुन्दरता और सुकुमारताका अनुभव होता है, अपने अनुभवके अनुसार ही कविने प्रभातको साड़ी पहिनाकर देखा है, कविकी मानसिक प्रवृत्तियोंने प्रयोग किया होगा अपनी कल्पनाकी सतरँगी साड़ी पहिनाकर प्रभावको देखनेके लिए—प्रभात कविको सुन्दर और स्त्री सुलभ सुकुमारता लिए हुए दिखलाई क्यों न देता। इसमें तो सन्देह नहीं कि प्रभातमें कोमलता, कुछ-कुछ स्निग्धता भी है, जब कविने उसे साड़ी पहिना दिया, तो उसका रूप निखर उठा। कविकी स्त्रैण कल्पनाने उसे अपने रूपमें ही देखा। इस प्रकारसे हम देखते हैं कि एक मनुष्यके विचारका स्पष्टीकरण वाणी (शब्दों) द्वारा ही होता है, साधारण शब्द प्रयोग जहाँ कहीं भी अपने प्रयोगसे अर्थ स्पष्ट

१ Power of words by Rechards Meaning of [meaning. PP. 30 and 31-

हीं कर पाते, वहीं पर शब्दोंको अधिक भारी बनानेके लिए प्रतीकात्मक प्रयोग कर दिया जाता है। यदि हम उसके अर्थ-बोधक शक्तियों पर विचार करें, तो उनका विस्तार तीन भिन्न भिन्न दिशाओंमें पाया जाता है—

(१) एक प्रतीक केवल एक ही प्रसंगका बोधक है, (२) प्रतीककी पृष्ठभूमिमें केवल विचारोंका संघटन और परिस्थितियोंकी मीमांसा ही है और (३) कभी कभी मानसिक धरातलसे उठकर प्रचलित प्रतीकके स्पष्ट अर्थों तक पहुँचकर असंदिग्ध विचार उसी परम्पराकी धुरी पर ही रह कर अशुद्ध अर्थ बोध कराते हैं।

एक साहित्यकार जब अपने विचारोंकी शृंखलाको शब्दबद्ध करता है, तब उसी रूपमें ही उसकी अर्जित शब्दावलीकी रूपरेखा विचारके समक्ष खिंच उठती है। अपने अनुभव, अपनी प्रवृत्तियों और अपनी अनुभूतिके अनुसार ही वह उस शब्दावलीसे उस समयके लिए शब्द निकाल लेता है। यही विचारोंके साथ शब्दोंका गठबन्धन ही एक प्रसंग पर एक ही प्रतीकका प्रयोग कराता है। 'आँसू' के एक दार्शनिक कवि प्रसादकी चार पंक्तियाँ लीजिए—

'झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद माला।
पा कर इस शून्य हृदयको, सबने आ डेरा डाला।'

साधारण अर्थमें कवि यही कहना चाहता था, कि बाह्य परिस्थितियोंमें एक हलचल था और उसके अन्तर (हृदय) में एक शून्यता थी। बाह्य परिस्थितियोंकी जटिलताओंने आकर कविके सूने हृदय पर डेरा डाल दिया।

अपनी व्यञ्जनाकी शक्तिके द्वारा अपने समस्त भावों पर कविने एक अवगुंठन डाल दिया है। परन्तु उन व्यञ्जक शक्तियोंके द्वारा कविके जो भाव बलपूर्वक दबा लिए गए हैं, अब भी चीखकर स्पष्टता व्यक्तकर रहे हैं। 'प्रसाद' जीके आँसूका उदाहरण देकर केवल प्रतीकके पीछेकी पृष्ठभूमिका ही स्पष्ट करना था। इसी प्रकारसे (जैसा ऊपर कह आए हैं) प्रत्येक युग, प्रत्येक विचारधारासे प्रभावित एक प्रतीक होता आया है। निर्गुण-धाराके भक्त कवियोंके कुछ उदाहरण लीजिये—

अवधू! भजन भेद है न्यारा!
क्या गाए क्या लिखि बतलाये, क्या भरमैं संसारा,

क्या संध्या तरपन के कीन्हें, जो नहीं तत्त विचारा।[१]

कबीरके अधिकांश पदोंमें 'अवधू' का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं निर्गुण-साहित्यके आलोचकोंने 'अवधू' की परिभाषा बिना वधू वाले पुरुष है, सम्भवतः इसका संकेत उन योगियोंकी ओरसे है, जो लौकिक बन्धनों मुक्त रहते हैं, कहीं-कहीं पर सुषुम्णा नाड़ीको भी अवधती या अवधूती ना कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धयोगियोंके लिए 'अवधू' का सम्बोध हुआ है। निर्गुण सन्तोंके अतिरिक्त यदि हम सूरके पदोंको भी लें, तो उन भी परम्परित प्रतीकका उदाहरण मिल सकता है। प्रतीकके पंखों पर उड़क सूरका कवि भक्ति के गगन में मँडराया है। 'मन'के साथ पखेरू या पंछ की तुलनाकी गई है। 'जा दिन मन पंछी उड़ जैहैं, ता दिन तेरे तन तरुव के सबै पात झर जैहैं।' अथवा—

'ऊधो ! जोग जाने कौन।

हम अबला कहँ जोग जाने, जियत जाको रौन,

जोग हमरे हाथ न आवे, धरि न आवे मौन।

बाँधहैं क्यों मन पखेरू, साधिहैं क्यों पौन !'[२] आदि।

शक्ति इतनी विवेकशील है, निर्मल है कि उन कवियोंने 'हंस'को उपमा अपने मनसे देकर एक अद्भुत प्रतीकात्मक शब्दका प्रयोग किया है। कवि अपनी रागिनीमें जब मस्त होकर गा उठे—

'हंसा चल वह सरवर तीर !'

'हंसा'का एक अलौकिक रूप पाठकके सामने खिंच उठा। वह निर्विकार रूप जो ज्योतिर्मय है, उसीका आह्वान 'सूर' ने 'हंस' के पीछे किया। आगे कविने 'हंस' को कोई ऐसे स्थान पर ले जानेका विचार नहीं किया, जहाँ वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको छोड़कर जा सके। स्वभावतः वह तो जहाँ जायगा, कवि उसके पङ्खोंपर बैठा मँडराता चला जायेगा। 'हंस'के ही स्वभावसे परिचित होकर कविने कहा मानसरोवर अथवा सरवर तीर चलो। 'मानसरोवरकी कल्पना उस स्थानके लिए की है, जहाँ समाधि अवस्थामें जीवनमुक्त आत्मा अमृतका आस्वादन करती है।' ऐसे ही अनेक शब्द हैं, जो इतिहासके विभिन्न युगोंमें प्रचलित रहे हैं। इसका कारण बताया जा चुका है।

अतएव सारांशमें प्रतीकात्मक प्रयोगोंके विषयमें यही कहना है कि कवि गाता है, आवाहन करता है एक रूपका—वही रूप जो उसे वाञ्छित है, जिसका उसे अभीष्ट है। हृदयकी प्रेरक शक्तियाँ मस्तिष्कसे बाहर निकलते निकलते एक वाणीका अवलम्ब ले लेती हैं—और वह वाणी है, अपने वातावरण, अपनी मान्यताओं, अपनी परम्परागत रूढ़ियोंका एक मिश्रित रूप। इन्हीं विचारोंसे बोझिल वाणीमेंसे झाँककर प्रतीक अपनी विशेष सत्ता रखता है। प्रतीक शब्दकी वह विशेष आत्मा है, जिसपर उस युगकी संस्कृति और मान्यताओंकी छाप विद्यमान रहती है।

८—आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें प्रबन्ध-काव्य

'बह्वपि स्वेच्छया काम प्रकीर्णमभिधीयते।
अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥'—"माघ"

आधुनिक हिन्दी-साहित्यका प्रारम्भ भारतेन्दुयुगसे माना जाता है अनेक कारणोंसे यह मान्यता उचित भी है। जिन नवीन उपकरणोंको समेट कर आजका हिन्दी-साहित्य विकसित हो रहा है; उनका बीजोपचेर वस्तुतः भारतेन्दुयुगमें ही परिलक्षित होता है। भारतेन्दुयुगमें ही हमारी चेतना युग-युगकी विश्वास परम्पराको त्यागकर बौद्धिकता की ओर उन्मुख हुई थी। अबतक हमारा जीवन-प्रवाह विश्वासकी विश्रब्ध लहरियोंके साथ क्रीड़ा करता हुआ प्रवहमान था। उसकी सीमा-रेखायें शान्तिके शिलाखण्डोंसे सुरक्षित थीं। जीवनकी जटिलतम समस्याओंका समाधान घोर आत्मचिन्तन एवं महती अनुसन्धित्साके फलस्वरूप उपलब्ध करके भी हमारे मनीषियोंने उसे विश्वासके आवेष्टनमें ही प्रस्तुत किया था। भारतेन्दुयुगमें प्रथम बार इन समाधानोंके आगे प्रश्नवाची चिह्न लगा था; तबसे हमारा सम्पूर्ण विकास इसी प्रश्नवाची चिह्नके चतुर्दिक हो रहा है। मानव-चिन्ताधाराके विकास-क्रममें इतना महत् परिवर्तन सर्वथा चिन्तनीय है।

इस परिवर्त्तनका कारण स्पष्ट है। अंग्रेजी-साहित्यके माध्यमसे पाश्चात्य चिन्ताधाराका समागम। यह चिन्ताधारा प्रच्छन्न रूपसे हमारे जीवन प्रवाहमें इतनी दूर तक प्रवेश पागई कि हमारे सोचनेका ढङ्ग ही बदल गया। विजेता अंग्रेज यही चाहते थे। सन् १८५३ ई० में ब्रिटिश पार्लियामेण्टके सामने सर चार्ल्स ट्रेवीलियनने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया था "हम लोग जो कुछ कर रहे हैं, उसका उद्देश्य इस प्राचीन हिन्दू-संस्थाके उपासकोंके साथ अनुचित उत्तेजना पूर्ण संघर्षमें प्रवेश करना नहीं है, वरन् इस देशके निवासियोंको एक अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान मन्दिरका द्वार उद्घाटित करनेवाली बिलकुल नई कुञ्जी देनी है। हम नई प्रणालीके प्रोत्साहनका प्रबल

प्रयोजन भारतवासियोंके मस्तिष्कसे उनकी प्राचीन प्रणालीके प्रभावको पूर्णतः उन्मूलित करना है। अधिकतर वे इसमें प्रथम स्वमेव क्रियाशील नहीं होते। यह एक महान् सत्य है कि किसी देशकी उदीयमान सन्तान कुछ ही वर्षोंमें सम्पूर्ण राष्ट्र बन जाती है और यदि हम जनताके चरित्रमें कोई प्रभावशाली परिवर्तन करना चाहते हैं, तो हमें चाहिए कि उन्हें बचपनसे ही ऐसी शिक्षा दें, कि वे आगे चलकर हमारी इच्छानुसार चलें। तब हमारा समस्त धन-व्यय सार्थक हो जायगा; हमें अपने मार्गमें परम्परागत रूढ़ियोंसे संघर्ष न करना होगा। हमें (इस शिक्षासे) कुछ ऐसे मस्तिष्कवाले मनुष्य मिल सकेंगे, जिनसे हम अपना काम निकाल सकेंगे और हम प्रभावशाली और बुद्धिमान युवकोंके एक ऐसे वर्गका निर्माण कर सकेंगे, जो आगे चल-कर हमारी सहायताके बिना ही हमारी प्रणालीके सक्रिय प्रचारक बनेंगे।"

जिस प्रकार अंग्रेजोंकी यह प्रच्छन्न शिक्षा-नीति हमारे विचारोंपर विजय प्राप्त करनेके निमित्त प्रयुक्त हो रही थी, उसी प्रकार उसकी प्रच्छन्न अर्थनीति हमारी आर्थिक व्यवस्थाको प्रभावित कर हमें विकलांग करनेमें संलग्न थी। वस्तुतः अंग्रेजोंकी सभी सामाजिक नीतियाँ उनकी अर्थनीतिकी पूरिका रही हैं। उनकी राजनीति और अर्थनीति तो सदैव सहगमन करती ही रही हैं। जीवनके व्यवहार पक्षसे सम्बन्धित होनेके कारण सर्व प्रथम हमारा ध्यान अंग्रेजोंकी अर्थ शोषण नीतिपर ही गया। हमने वास्तविक इंगलैण्डको पह-चाननेका प्रयत्न किया। स्वामीविवेकानन्दने इस वास्तविक इंगलैण्डका विश्लेषण बड़े ही मार्मिक ढंगसे किया है—

"विशाल राजप्रासाद, पृथ्वीको कम्पित करनेवाले अश्वारोहियों और पदातियोंकी सेनाओंकी पद-चाप, रण-भेरी, युद्धतूर्य तथा मारू बाजे और राजसिंहासनके वैभवपूर्ण दृश्य—इन सबके पीछे इंगलैण्डकी वास्तविक सत्ता सदा वर्तमान है—वह इंगलैण्ड जिसके मंत्रालयोंकी चिमनियोंके धूम्र-पटल ही उसकी रण-पताकायें हैं, जिसका व्यापारी वर्ग ही उसकी रणवाहिनी है, संसारके व्यापार-केन्द्र ही जिसके रण-क्षेत्र हैं।"

हमारी साहित्यिक चेतना भी अंग्रेजोंकी इस अर्थनीतिकी विजय-स्वीकृति के रूपमें ही व्यक्त हुई—

'भीतर भीतर सब रस चूसै, बाहरसे तन मन धन मूसै।
जाहिर बातनमें अति तेज, क्यों सखि साजन नहिं अंगरेज॥'--भारतेन्दु
*'सर्वसु लिए जात अंगरेज, हम केवल लेक्चरके तेज।
श्रम बिनु बातैंको करती हैं, कहुँ टटकन गाजैं टरती हैं॥*
—प्रतापनारायण मिश्र

आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रोंमें अंग्रेजोंकी इस विजयने हमारी जीवन-प्रणालीमें आमूल परिवर्त्तन ला दिया। हम नवीन जीवन-प्रणालीको ग्रहण करनेमें संलग्न हुए। *फलतः हमारे जीवनमें एक क्रान्ति, एक अव्यवस्थाने* प्रवेश पाया। भारतेन्दुयुगकी साहित्यिक चेतना इसी अव्यवस्थित जीवनकी चेतना थी। संक्रान्ति एवं अव्यवस्था हमें सजग तथा चैतन्य कर सकते हैं, किन्तु हमें सन्तुलित चिन्तनकी ओर उन्मुख नहीं कर सकते। परिणाम होता है *पूर्ण जीवन-दर्शनका अभाव। जहाँ एक ओर हमारी जाग्रति एवं सजग चेतना* हमें निर्माणके लिए आकुल बना देती है, वहीं पूर्ण जीवन-दर्शनके अभावमें हम पूर्ण-जीवन को अभिव्यक्तिमें अक्षम ठहरते हैं। विज्ञ पाठकोंको कदाचित् स्मरण न कराना होगा कि प्रबन्ध-काव्योंकी सफलता जीवनकी पूर्णतम अभिव्यक्तिपर आश्रित है। जब कभी हमारे प्राचीन विश्वास, हमारे पुराने जीवन-दर्शन रूढ़िग्रस्त होकर या अन्य किसी कारणसे अपनी धारणा शक्ति, अपनी गतिमयता खो देते हैं, तभी हमारे विचारक हमारे युग विधायक तथा हमारे मनीषी कवि हमें नवजीवन दर्शन देकर हममें अभिनव प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। *कविकी कारयित्री प्रतिभा प्रबन्ध-काव्योंके माध्यमसे ही पूर्ण-जीवन-दर्शनको अभिव्यक्ति देती है।*

हम देख चुके हैं कि हमारे आधुनिक हिन्दी-साहित्यका प्रारम्भिककाल (भारतेन्दुयुग) अव्यवस्थाका युग था। कदाचित् इसीलिए तत्कालीन कवियों की सजग दृष्टि केवल जीवनके *प्रस्तुत खण्ड-चित्रोंपर ही जा सकी।* फलतः वे प्रबन्ध-काव्योंकी सृष्टि न कर सके। जीवनके सामान्य विषयों—बुढ़ापा, विधिविडम्बना, जगत सचाई सार, गोरक्षा, माताका स्नेह, सपूत—कपूत— को लेकर कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावोंको मिश्रित धारा केवल छोटे-छोटे प्रबन्धोंकी सृष्टि कर सकी। इनको पद्यात्मक *निबन्ध कहना ही*

अधिक समीचीन होगा। भारतेन्दुके अतिरिक्त अन्य प्रायः सभी लेखकों एवं कवियोंने प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट—इस प्रकारके पद्यात्मक निबन्धोंकी रचना की। अस्तु; प्रबन्धकाव्योंकी दृष्टिसे हमारे हिन्दी-साहित्यके आधुनिक विकासका प्रथम काल विशेष महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

आधुनिक हिन्दी-काव्य-धाराकी दूसरी मोड़ द्विवेदीयुगके नामसे अभिहित की जाती है। इस युग तक आते-आते पाश्चात्य संस्कृतिसे हमारा एक समझौता-सा हो गया था। राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रोंमें उनकी शक्तिमत्ता और अपनी अशक्तताका पूर्ण परिचय प्राप्त कर हम चुप बैठ गए थे। साथ-ही सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रोंमें प्रत्यक्षतः उनने भी हमें छेड़ना समुचित नहीं समझा। यह होते हुए भी अंग्रेजों द्वारा नव शिक्षाप्रणालीके रूपमें उपस्थित बीज अपना कार्य करता रहा। फलतः इन दोनों क्षेत्रोंनें भी हमारे दृष्टिकोणने बौद्धिक साँचेमें ढालकर लौकिकताका रूप देना प्रारम्भ किया। जो भी हो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस तात्कालिक समझौतेने एक सामयिक व्यवस्थाको जन्म दिया। यह सामयिक व्यवस्था जीवनके प्रति सुधारवादी दृष्टिकोणके रूपमें मूर्त हुई। क्रियाशीलताके लिए केवल धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र ही उन्मुक्त थे, अतः जीवनके क्षेत्र ही इस व्यवस्थाको अपना सके। जीवनको यह व्यवस्था काव्य-जगतमें भी अभिव्यक्ति पाने लगी। वस्तुतः प्रबन्ध-काव्योंकी सृष्टिके लिए यह युग उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत कर सका। युग-युगमें प्राचीन जीर्ण-विश्वासोंके ध्वंसावशेषों पर प्रकम्पितवद उद्भ्रान्त विकल मानव करणीयाकरणीयके विवेकको खोकर युग-प्रवाहमें जब अपनी इयत्ताके खोनेका स्वप्न देखने लगा है; तभी नवयुग विधायक कवियोंने उसे नूतन विधि निषेधका दान देकर प्राणवान किया। मध्ययुगकी किंकर्त्तव्यविमूढ़ जनताकी ऐसी ही अवस्थितिमें तुलसी ने "विधि निषेधमय कलिमल हरनी" रामकथाको भाषा-बद्ध किया था। कदाचित् इसीलिए विद्वानोंकी धारणा है कि संक्रान्तियुगमें ही प्रबन्ध-काव्योंकी सृष्टि होती है; किन्तु तथ्य यह है कि ये प्रबंधकाव्य संक्रान्ति-युगकी समाप्तिके द्योतक होते हैं। संक्रान्तियुगके प्रश्नोंका समाधान लेकर ही प्रबन्धकाव्य अवतरित होते हैं। द्विवेदी-युगमें हमने, अपने प्राचीन

विश्वासोंके आगे—पाश्चात्य संस्कृतिके समागमके प्रतिफल-स्वरूप—उ
हुए प्रश्नोंका समाधान प्राप्त कर लिया था। यह समाधान मुख्यतया ती
रूपोंमें व्यक्त हुआ—

१—प्राचीन विश्वासोंकी बौद्धिक व्याख्या। २—प्रस्तुत जीवनके प्रति
सुधारवादी दृष्टिकोण। ३—प्राचीन गौरवका अभिमान।

प्राचीन विश्वासोंको बुद्धिग्राह्य बनानेका मुख्यतम कारण यह था कि
हमारा निजका विश्वास अंग्रेजी शिक्षा प्रणालीके प्रतिफल स्वरूप उनसे
हिल चुका था। प्रत्यक्ष रूपसे हम विश्वासयुगसे निकल कर बुद्धियुगमें
प्रवेश कर चुके थे। अतिरिक्त, विजेता ब्रिटिश जन-समाज उन्हें प्राचीन रूप
ग्रहण करनेको प्रस्तुत न था। साथ ही हम उन्हें छोड़ भी न सकते थे।
हमारे युगके स्वप्न, उन्हींमें निहित थे।

प्रस्तुत जीवन ब्रिटिश जातिके आचार व्यवहारोंके सम्मुख थोथा प्रतीत
होने लगा था। उसमें जीवन और धर्मके व्यवहार पक्षमें—हमें घोर अन्ध-
विश्वासिता की बू आने लगी थी। वे अमानुषिक घोषित किए जा चुके थे।
मूलरूपमें उपादेय एवं प्रगतिशील होने पर भी वास्तवमें हमारे अनेक आचार
विचार रूढ़िग्रस्त हो चुके थे। ऐसी दशामें उनमें सुधार अपेक्षित था।
आमूल परिवर्तनके लिए हम प्रस्तुत नहीं थे।

वर्तमान अव्यवस्थित एवं हीन होने पर तथा भविष्य निराशाजनक होने
पर जीवनकी समस्त उज्ज्वलता हमें अतीतमें ही दृष्टिगत हुई। वीरता,
शौर्य, उत्साह, दया, तपस्या, तितिक्षा सभी प्रस्तुत जीवनकी विडम्बनामें
ढूँढने पर भी नहीं मिलते थे। वर्तमान, एक पराजित जातिका वर्तमान—
अपने भीतर घनीभूत निराशाके अतिरिक्त और क्या दे सकता था। फलतः
हमारा अतीत की ओर मुड़ना स्वाभाविक था।

अतः द्विवेदीयुगमें जहाँ इस प्रचुर परिमाणमें प्रबन्धोंका प्रणयन देखते
हैं, वहीं उनके अन्तर्भूत विषय धारामें उपर्युक्त त्रिविध समाधानोंको भी
किसी न किसी रूपमें ग्रहीत पाते हैं। इस युगमें लिखे गए प्रबन्धोंके
स्थूल दृष्टिसे तीन प्रकार मिलते हैं—

क—आख्यानकगीति, ख—खण्डकाव्य, ग—महाकाव्य

'आख्यानकगीति—स्वरूपकी दृष्टिसे आख्यानकगीति प्राचीन महाकाव्यों तथा खण्डकाव्योंसे सर्वथा भिन्न है। प्रसिद्ध अंग्रेजी समालोचक हडसनके मतानुसार आख्यानकगीति एक पद्यबद्ध कहानी है। इसमें युद्ध, वीरता और पराक्रमका प्राधान्य रहता है। प्रेम, करुणा, घृणा आदि जीवनके अन्य भाव इसे प्रेरणा प्रदान करते हैं। शैलीकी सरलता तथा स्पष्टता वर्णनका प्रवाह तथा स्वच्छन्द आवेग, मनोवैज्ञानिक चित्रणका अभाव इसकी अन्य विशेषतायें हैं।

इसके अनुसार लाला भगवानदीनका 'वीर पञ्चरत्न'; मैथिलीशरण गुप्त का 'रंगमें भंग', 'विकट भट' तथा 'गुरुकुल'; सुभद्रा कुमारी चौहानकी 'झाँसीकी रानी' उत्कृष्ट आख्यानकगीति हैं। सियारामशरण गुप्तका 'मौर्य विजय' मूल रूपमें एक आख्यानकगीति है, परन्तु शैलीकी दृष्टिसे यह खण्डकाव्यके अधिक निकट है। विषयकी दृष्टिसे इन आख्यानकगीतियोंमें नवीनता न होते हुए भी पुरातनके प्रति स्वाभिमान स्पष्ट है। प्राचीन गौरवके गानके लिए ये सर्वथा उपयुक्त सिद्ध हुईं। काव्यशैलीकी दृष्टिसे इनका विकास स्तुत्य है। गीतिमत्ता नाटकीय तत्वोंके समावेश तथा काव्यके अन्य गुणों अलङ्कारादिका समावेश होते हुए भी इनकी सरलता और स्वाभाविकता बनी रही। नाटकीय तत्वोंका चरम विकास गुप्तजीकी कृतियोंमें देखनेको मिलता है। 'विकट भट'की कथाका प्रारम्भ ही एक नाटकीय ढंगपर किया गया है—

> होटोंसे हटाके रिक्त स्वर्ण सुरा पात्रको
> सहसा विजय सिंह राजा जोधपुरके
> पोकरण वाले सरदार देवी सिंहसे
> खास दरबारमें यों बोले 'देवी सिंह जी'!
> कोई यदि रूठ जाए मुझसे तो क्या करे।

आधुनिक आख्यानकगीतियोंका सुन्दरतम रूप 'झाँसीकी रानी'में मिलता है। भाषाकी सरलता, वर्णनका प्रवाह एवं विशदता, ओजस्विता तथा गीतिमत्ता सभीका सुन्दर समावेश इसमें देखनेको मिलता है। प्रभावोत्पादन के लिए 'पुनरुक्ति'का सफल प्रयोग भी इसमें मिलता है जो आदिसे अन्त

चक काव्य प्रवाहमें कहीं बाधा नहीं पहुँचाता। इसकी ओजस्विता तो पंक्ति के साथ बढ़ती चलती है—

'कुटियोंमें थी विषम वेदना महलोंमें आहत अपमान।
वीर सैनिकोंके मनमें था अपने पुरखोंका अभिमान॥
नाना धुंधूपंत पेशवा जुटा रहा था सब सामान।
बहिन छबीलीने रणचंडीका कर दिया प्रकट आह्वान॥
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलोंके मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।'

खण्डकाव्य—द्विवेदीयुगमें प्रबन्धोंका दूसरा स्वरूप खण्डकाव्यों मिलता है। खण्डकाव्य जीवनके खण्ड चित्रोंको ही अभिव्यक्ति देता है। उसमें हम जीवनके सत्यको उसके अनन्त विस्तारमें न देख कर एक विशे बिन्दु पर ग्रहण करते हैं, जहाँसे वह हमारे समस्त जीवन-दर्शनको अनु प्राणित करता है। कदाचित् इसीलिए हमारे प्राचीन प्रबन्धकार खण्डकाव्य के लिए महाकाव्योंके स्वतः पूर्ण कथानकोंको ग्रहण करते रहे।

द्विवेदीकालमें लिखे गए खण्डकाव्य भी कथा-वस्तुकी दृष्टिसे इस परम्पराको बनाए रहे। 'जयद्रथ-वध' 'नहुष', 'पञ्चवटी' आदि सभीके कथानक प्राचीन महाकाव्योंसे लिए गए। इनके अतिरिक्त ऐतिहासिक कथानकोंसे भी कथावस्तु लेकर खण्डकाव्योंकी सृष्टि हुई। रामकुमार वर्मा का 'वीर हम्मीर'; सियारामशरणका 'मौर्य विजय' गोकुलचन्द्र शर्माका 'प्रणवीर प्रताप' श्रीनाथ सिंहकी 'सती पद्मिनी' मध्य-युगीन ऐतिहासिक कथानकोंको लेकर ही चले हैं। मूलरूपमें, ऐतिहासिक पुरुषोंकी गौरवगाथा प्रस्तुत करनेवाले ये खण्डकाव्य, आख्यानकगीति होने पर भी शैली भेदसे खण्डकाव्योंके रूपमें ही ग्रहण किए जायँगे। ऐतिहासिक वृत्तोंको काव्यो-पादान बनानेका मुख्य कारण हमारा प्राचीन गौरवके प्रति व्यामोह तो था ही परिस्थिति प्रसूत एक अन्य कारण भी था। पुरातत्व विभागकी स्थापना

१—"खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैक देशानुसारि च। साहित्य-दर्पण—पृ० ३०२

तथा कर्नल टाड द्वारा 'राजस्थान'की रचना ने ऐतिहासिक युगके महावीरोंके प्रति, प्रस्तुत जीवनसे उदासीन भारतीयोंके मनमें महती श्रद्धाका सूत्रपात कर दिया था।

प्रारम्भमें ये खण्डकाव्य इतिवृत्तात्मक होनेके अतिरिक्त सीधी-सादी वर्णनात्मक शैली में लिखे जाते रहे। क्रमशः इनमें नाटकीय तत्त्वोंका समावेश, कथोपकथनकी वक्रता, तथा प्राकृतिक मञ्च दृश्योंकी पृष्ठभूमिमें कथावस्तुकी अवतारणा आदिसे कलात्मकता एवं सूक्ष्मता का समावेश होने लगा। 'पञ्चवटी'में हमें इस प्रकारके खण्डकाव्योंका चरम कलात्मक विकास देखनेको मिलता है।

इनके अतिरिक्त इसी युगमें रचे गए खण्डकाव्योंका एक अन्य प्रकारभी मिलता है। अपने मूल रूपमें ये प्रेमाख्यानक काव्य हैं। इन्हें खण्ड काव्यान्तर्गत सीमित करनेका कारण यह है कि ये जीवनके व्यवहारपक्षकी क्रिया विविधता तथा अन्तर्पक्षकी वृत्ति-विविधतासे सर्वथा पृथक् रहकर एकान्त प्रेमतत्वको लेकर ही चलते हैं। प्रेम, मानवताका एक आवश्यक अंग है तथा मानव जीवनकी एक सजग प्रक्रिया; किन्तु वह स्वयं मानव जीवन नहीं है। अतः एकान्त प्रेमको लेकर चलनेवाले काव्य, खण्डकाव्य ही हैं। शैली एवं आकारकी दृष्टिसे भी इनका कलेवर इन्हें खण्डकाव्यकी परिधि तक ही ले जाता है। प्रसादका 'प्रेम पथिक'; रामनरेशके 'स्वप्न', 'मिलन' और 'पथिक' सुमित्रानन्दन पन्तकी 'ग्रन्थि' ऐसी ही रचनायें हैं।

इन सभी कृतियोंमें प्रेम, वासनाजनित आकर्षणसे ऊपर उठकर अलौकिक हो गया है। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह 'जीवनकी वृत्ति' रूपमें ग्रहण न होकर 'जीवनके तत्व' रूपमें ग्रहण हुआ है।

'इस पथका उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवनमें टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं'—'प्रसाद
'प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम रूप भगवान'—रामनरेश त्रिपाठी

पहले इसके कि हम इस युगके वृहद् काव्यों एवं महाकाव्योंका परिचय दें, हम दो शब्द प्रबन्ध काव्योंके एक लघुतम प्रकार—जिसे 'पद्यात्मक कहानी' कह सकते हैं—के विषय में कहना चाहेंगे। हम कह आए हैं कि भारतेन्दु-

युगमें एक प्रकार के पद्यात्मक निबन्धोंका प्रचलन था, जो जीवनके सामा विषयोंको लेकर लिखे जाते थे। द्विवेदी-युगकी पद्यात्मक कहानियाँ उन प्रकारान्तर स्वरूप महणकी जा सकती हैं। यह प्रकारान्तर दो क्षेत्रो संलक्षित होता है। एक तो विषयकी विविधता और दूसरे निबन्ध-तत्वो स्थानपर कहानी तत्वोंका समावेश। मैथिलीशरण गुप्तका 'किसान'; सिर रामशरण गुप्तका 'अनाथ'; गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'का 'कृषक क्रंदन राजाराम शुक्लकी 'विधवा'; रूपनारायण पाण्डेयका 'दलित कुसुम' औ 'वन विहङ्गम', गुरुभक्त सिंहकी 'कृषक वधूटी' तथा नाविक वधू' इस श्रेणीकी 'पद्यात्मक कहानियाँ' हैं। इनके अतिरिक्त व्यंग्य हास्य उप उपदेश प्रधान पद्यात्मक निबन्ध भी छिटपुट रूपोंमें लिखे जाते रहे।

महाकाव्य और वृहत् काव्य—मानव—जीवनके युग-युगके प्रयोगों शङ्कासमाधानों की समन्विति, नवीन जीवन-दर्शनका उन्नयन तथा स्थूल जीवन प्रक्रियाओंका समग्र विस्तार अपनी अन्तर्धारामें समेट कर चलनेवाला महाकाव्य प्रणेताके वृहत्-ज्ञान, सघन अनुभूति, व्यापक व्यवहार कुशलता तथा समस्त जीवन साधनाकी अपेक्षा करता है। कदाचित् इसीलिए उसके प्रणयन की दुष्करता महापण्डित 'माघ'के द्वारा भी मुखरित हो उठी थी—

'बह्वपि स्वच्छया काम प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरु दाहरः ॥'

वस्तुतः पूर्ण जीवन-दर्शनके अभावमें प्रबन्ध-प्रणेताकी सफलता संदिग्ध ही रहती है। हम देख चुके हैं कि द्विवेदीयुगमें पाश्चात्य संस्कृतिसे समझौता करके हमने जो एक स्थायी जीवन व्यवस्थाको स्वीकृति दी थी, उसकी भित्ति प्राचीन विश्वासोंके बौद्धिक समाधान पर अवस्थित थी। वर्तमान निराशाजनक एवं हेय होनेके कारण हम अतीतके गौरव गानमें भी संलग्न थे। हमारे अतीतने ही जीवनकी पूर्णता व्यक्तित्व—विकासमें ही दिखाई थी। पूर्णजीवन-दर्शनको मूर्त करनेके लिए अवतारवादकी प्रतिष्ठाका कदाचित् यही रहस्य था। अतः इस युगमें भी हमने जब उपर्युक्त अस्थायी व्यवस्था को मूर्त्त करना चाहा, तो हमें अपने चिर परिचित अवतारोंको ही अपनाना पड़ा। हाँ इतना अवश्य हुआ कि युगकी मान्यताके प्रतिकूल हम इसका

लोकोत्तर स्वरूप न रख सकें, या हमने ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंको लिया, जिनकी सम्पूर्ण महत्ता उन्हें महा मानवता तक ही ले गई थी। यद्यपि इनके अपवाद भी हैं, पर युग-प्रवृत्ति ऐसी ही थी। आगेके पृष्ठोंमें हम इस युगके प्रमुख प्रबन्धोंका परिचय प्रस्तुत करेंगे। भाषा, शैली, एवं आकार प्रकारमें इनकी विभिन्नता वस्तुतः प्रयोगकालीन होनेके कारण अभिव्यक्ति प्रणालीकी अनिश्चितताके कारण हैं। इन प्रबन्धोंकी कथा-धाराका विकास जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, ईश्वरके तीन परम्परा गृहीत अवतारों-राम, कृष्ण और बुद्धको लेकर ही हुआ है। इन चरित्रोंको लेकर चलनेवाली युग की प्रतिनिधि रचनायें 'साकेत', 'प्रियप्रवास' और 'यशोधरा' हैं।

'प्रिय-प्रवास'में परब्रह्म कृष्णके अलौकिक चरित्रको बुद्धि ग्राह्य बनानेका स्तुत्य प्रयास है। कृष्ण, लोक रञ्जक[1] रूपके स्थान पर लोक-रक्षक रूपमें प्रतिष्ठित हैं। राधा अपने विरह विदग्ध हृदयकी प्रज्वलित ज्वाला जनसेवाके अविश्रमित प्रयासमें उपशमन कर, प्रेमकी अपेक्षा कर्त्तव्यकी महत्ता प्रतिपादित करती हैं। अघासुर, बकासुर राक्षस न होकर दुष्ट लोक-पीड़क हैं। वनका अग्निकाण्ड राक्षसकी करतूत हैं, गोवर्द्धन-गिरिधारणकी वौद्धिक व्याख्या तो विज्ञपाठकोंको स्मृत होगी ही। नवधा भक्तिका प्रयोग कविने देशभक्तिके क्षेत्रमें किया है। तात्पर्य यह कि कथाका कोई अंश ऐसा नहीं रखा गया है, जिसमें अन्धविश्वासकी गन्ध आती हो।

प्रबन्धात्मकताकी दृष्टिसे 'प्रिय-प्रवास' शिथिल है। कथावस्तुका विस्तार इतने सीमित क्षेत्रमें किया गया है कि उसमें जीवनकी पूर्णाभिव्यक्ति सम्भवही नहीं। कृष्ण ब्रजसे मथुरा चले जाते हैं। ब्रज विरह-वारिधिमें आपूड़ मग्न हो जाता है। कृष्ण कंसका वध करके मथुरामें राज्य सञ्चालन करने लगते हैं। ब्रजकी स्मृति फिर भी बनी रहती है। उद्धवको देखकर ब्रजका विरहजनित

१—माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः। कार्यं कारण रूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥ (वेदान्तक-२४८) सूर सागरके कृष्ण मायाके सम्बन्धसे रहित, कारण रूप ब्रह्म हैं। जगत् उनकी लीलाका विलास है। अतः उसमें उनका लोक-रञ्जक रूप ही चित्रित किया गया है।

जड़ क्लेश पुनः जीवित हो उठता है। उद्धव जहाँ कहींभी जाते हैं, वन गि
नदी, पशु, पक्षी, ग्वाल बाल गोपी, वृद्ध, युवा सभी पूर्व स्मृतियोंमें सि
दुःख-निधियोंकी भेंट उन्हें देने लगते हैं। कथा सूत्रोंके एकत्रीकरणका प्रय
इन्हीं पूर्व स्मृतियोंमें किया गया है। अतः जीवनके क्रमिक विकासके स
चलती हुई कथा-धाराका तारतम्य एवं संतुलन इसमें नहीं आ पाया है। कथ
नकका अधिकांश घटित न होकर वर्णित है।

महा-काव्यमें संघटनीय वाह्य वस्तु वर्णनः—वन, गिरि, नदी, संध्
प्रातः, प्रकृति, उद्यान, नगर, यात्रा आदिकथाकी सर्ग-बद्धता, छन्द परिवर्त
आदि उपकरणोंका संघटन अवश्य देख पड़ता है।

ग्रन्थारम्भमें कवि स्वयं अपनी इस कृतिको महाकाव्योंकी कोटिमें रख
है; किन्तु ऐसा माननेमें उसका आग्रह पूर्णतया आचार्यों द्वारा गिनाए गए
महाकाव्यमें उपादानोंको एक स्थानपर संयोजित कर देनेमें ही है। यही
कारण है कि साहित्य-दर्पणकारके बताए लक्षणोंको गिनगिनकर कवियोंने
प्रस्तुत किया है।

'सर्ग बद्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।

× × ×

तथाऽपभ्रंश योग्यानि छन्दांसि विविधान्यपि॥'

—(साहित्य-दर्पण पृ० ३०१)

भाषाकी दृष्टिसे संस्कृत बहुल पदावली एवं यत्र-तत्र हिन्दीका सरलतम
रूप दोनों देखे जा सकते हैं। दो उदाहरण अप्रासङ्गिक न होंगे।

'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडाकलापुत्तली॥
शोभा वारिधिकी अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृग-दृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी॥'

उपर्युक्त छन्दकी तृतीय पंक्तिसे "की" और चतुर्थ पंक्तिसे "थी" निकाल
देनेपर सारा छन्द "संस्कृत" हो जाता है।

दूसरी ओर विरहदशामें तो सरलतम हिन्दीके उदाहरण देखे जा
ते हैं—

'धीरे-धीरे दिन गत हुआ पद्मिनीनाथ डूबे ।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा वार आया ॥
यों ही बीतीं विपुल घटिका औ कई वार बीते ।
आया न कोई मधुपुरसे औ न गोपाल आए ॥'

प्रयोगकालीन रचना होनेके नाते यह भाषा-भेद उचित भी था; किन्तु वस्तुतः इन दोनों चरम सीमाओंको सँजोनेमें उपाध्यायजीकी व्यक्तिगत प्रवृत्तिने भी विशेष कार्य किया है। सब मिलाकर इसे हम एक सफल प्रबन्ध कहनेका दुःसाहस नहीं कर सकते। हाँ यदि विद्वसमालोचकोंको आपत्ति न हो तो हम इसे संस्कृत साहित्यके अलंकृत महाकाव्यों—"शिशुपालवध", "किरातार्जुनीय" और 'नैषधादि' की परम्पराका हिन्दी प्रतीक अवश्य कह सकते हैं। जिनमें पूर्वकी व्यासवाणी आधार पर कथा-वस्तुके क्रमिक विकासका स्थान विशद वर्णन परम्पराने ग्रहण कर लिया है। अनुभूतिकी तीव्रताको ठेल कर भाषा प्रयोगकी वक्रता आ बैठी है। फिर भी इन संस्कृत-काव्योंमें सम्युगीन राजनैतिक घात-प्रतिघातोंका चित्रण अपनी विशेषता रखता है और प्रिय-प्रवास इस विशेषतासे वंचित है।

'साकेत'—साकेतका कवि अपनी प्राचीन धार्मिक विश्वास परम्परा पर आश्रित है। राम और कृष्णकी अलौकिकतामें उसका पूर्ण विश्वास है। समस्त युग चेतनाको स्वीकार करते हुए भी वह रामको मानव रूपमें नहीं देखना चाहता। ग्रन्थारम्भमें ही वह अपना दृष्टिकोण व्यक्त कर देता है—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ? विश्वमें रमे हुए
सभी कहीं नहीं हो क्या ? तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे। तुम
न रमो तो मन तुममें रमा करे।"

राम के ईश्वरत्वमें अपना पूर्ण विश्वास रखते हुए भी "साकेत" के सृजनके मूलमें उर्मिलाकी जीवनाभिव्यक्ति ही प्रधान है। कवि रामके साथ न जाकर उर्मिलामें ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर लेता है। प्रारम्भमें ही वह नव-यौवनाके मधुमदिर क्षणमें दिव्य प्रणय-पयोधिकी विभ्रम लहरियोंमें अपने हृदयोल्लासको सम्पूर्ण सरलता विनय करती हुई उर्मिलाका पातिव्रत तेजोदीप्त स्वरूप चित्रित करता है और जब वह कर्त्तव्यकी महानताके सम्मुख

अपने असीम प्रेमकी बलि देकर लक्ष्मणको विदा देती है, तब भी कवि अपनी सम्पूर्ण साधना उसके करुणार्द्र जीवन बूँदोंके मूल्यांकनमें ही लगा देता है।

कविको अपने इस प्रयाससे परम्परागत रामकथामें परिवर्तन भी करना पड़ा है। उर्मिलाके जीवन-विकाससे सम्बन्धित सभी परिस्थितियों और घटनाओंका संगठन कविकी व्यक्तिगत कल्पना शक्तिपर आधारित है। पुष्पवाटिकामें सीताके साथ उर्मिला भी राम-लक्ष्मण दर्शन करती है और मन-ही-मन लक्ष्मणको वरण कर लेती है। चित्रकूटमें लक्ष्मण और उर्मिलाके मिलनकी सम्भावना भी सर्व प्रथम गुप्तजी द्वारा ही लक्ष्यकी गई है। चित्रकूटकी महती सभामें कुटिल कैकेयी ग्लानिसे गड़ती नहीं, वरन् वात्सल्यकी दुहाई देकर अपने सुकृत्यका मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करती है, चित्रकूट-मिलापके पश्चात्की घटनायें घटित नहीं होतीं—बालकांडकी उर्मिला, अरण्यकी शत्रुघ्न तथा किष्किन्धा और लंकाकी हनुमान द्वारा वर्णित हैं। इसी प्रकार हनुमान द्वारा लक्ष्मण-शक्तिका समाचार ज्ञात होने पर साकेतवासियोंकी रण-सज्जा युगजनित होने पर भी मौलिक है। इस कारण कथाका प्रवाह भी शिथिल हो गया है। अन्तर्जीवनकी मार्मिक व्यञ्जनाके कारण तथा छायावादी शैलीके प्रभावके कारण प्रगीत मुक्तकोंके तत्वोंका समावेश भी देखा जाता है। इन सब बाधाओंके होते हुए भी कवि युग चेतना—जैसे किसानों और श्रमजीवियोंके साथ सहानुभूति, युद्ध-प्रथाकी मीमांसा, राज्य व्यवस्थामें प्रजाका अधिकार और विश्वबन्धुत्वकी भावनाको भी प्रतिबिम्बित करनेमें सफल हुआ है।

प्रबन्ध-संघटनकी दृष्टिसे कविकी सफलता सर्वथा संदिग्ध है। सफल प्रबन्ध-काव्यकी विशेषताओंका उद्घाटन करते हुए एक प्रसिद्ध अंग्रेज समीक्षकने कथाके कार्यकी तीन विशेषताओंकी ओर संकेत किया है। एकता, पूर्णता और महत्ता, तीनों दृष्टियोंसे 'साकेत' की प्रबन्धात्मकता सन्दिग्ध है। कथामें एकता और सरलता आही कैसे सकती थी, जब कवि दो व्यामोहोंसे उद्वेलित हो रहा था। एक ओर तो वह रामके चरितकी काव्यात्मकतासे सहजही कवि बननेकी स्पृहा करता है और दूसरी ओर उर्मिलाके

विरह-विदग्ध अश्रुकणोंको गिन-गिन कर अमरत्व देना चाहता है। उर्मिला का समस्त जीवन स्वतः इतना एकांगी है कि उसमें समस्त जीवनकी पूर्णाभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं। ऐसी दशामें कार्यकी पूर्णताका प्रश्न कैसे सम्भव था। इसी प्रकार उर्मिलाका जीवन-विरह व्यक्तिगत दृष्टिसे मार्मिक और महत्व पूर्ण होनेपर भी समष्टिगत आधारोंपर विशेष महत्व नहीं रखता। प्रबन्ध काव्यके कार्यको महत्ता उसके लोक-व्यापी प्रभावपर निर्भर है। इसी-लिए उनमें महान् सांस्कृतिक संघर्षों एवं लोकव्यापी समस्याओंका समाधान प्रस्तुत करना अभीष्ट है। यद्यपि 'साकेत'के कविने इसका प्रयत्न किया है और उसने रावणविजयको भारतीय सांस्कृतिक विजयके रूपमें स्वीकार किया है, परन्तु उर्मिलाके जीवनसे कथाका यह भाग कितना प्रभावित है! पाठक स्वयं सोच सकते हैं। इस सांस्कृतिकविजयके मूलमें सीता और रामका जीवन ही सजीव हुआ है।

हाँ, भारतीय संस्कृत आचार्यों द्वारा महाकाव्यके लिए निश्चित किए गए लक्षणोंकी ओर अवश्य कविकी दृष्टि गयी जान पड़ती है, किन्तु सन्धियोंका ध्यान फिर भी नहीं रखा गया है।

इसका सर्वप्रधान कारण यही है कि 'साकेत'में सभी घटनाओंका संघ-टन अयोध्यामें ही किया गया है। कवि रामके साथ नहीं जा सका है। और राम-कथाका रामसे अलग अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अच्छा होता, यदि गुप्तजीका यह प्रयत्न उर्मिलाके उद्गार तक ही सीमित रहता।

"यशोधरा"—युग-युगसे हिन्दू नारीने पतिको कर्तव्यपथकी ओर उन्मुख किया है। कर्तव्य-परायणताके मूल्यांकनमें उसे अपनी नवनीतकी कोमलताको पाषाणकी जड़तामें परिवर्तित करना पड़ता है। पुरुषने उसके इस चिर ऋणको कभी स्वीकार भी किया यह नहीं कहा जा सकता। यशोधराके महत् त्यागको बुद्धके द्वारा स्वीकार कराकर 'यशोधरा'का कवि मानो मानव मान को उपालम्भसे बचा लेता है। अतिरिक्त, पतिकी दिव्य-प्रणय-बेलिको आँसुओंसे सींचती हुई तथा पुत्रके स्पृहणीय वात्सल्य जो दुःखको स्निग्धतासे सरसता प्रदान करती हुई यशोधरा आदर्श हिन्दू नारीका प्रतिनिधित्व कर उनके लिए हमारे हृदयमें एक उपासनाकी प्रतिष्ठाकी माग कर रही है, कवि

इन दोनों प्रयासोंमें सफल है। किन्तु 'यशोधरा'के सृजनमें वह एक प्रबन्ध-काव्य दे सका यह नहीं कहा जा सकता। वह स्वयं 'यशोधरा'को काव्य, नाटक, कहानी सभी कुछ मानता है फिर हम उसे एक सफल प्रबन्धके रूपमें देखनेका आग्रह ही क्यों करें।

वास्तवमें द्विवेदीयुगमें लिखे गए प्रबन्धोंमें कथाका विकास ईश्वरावतार राम और कृष्णको लेकर, अन्य देवी-देवताओंके चरित्राङ्कनमें तथा महावीरों की जीवनियोंके आधारपर हुआ है। प्रमुख प्रबन्ध काव्य प्रायः राम, कृष्ण तथा बुद्धके चरित्रोंको लेकर लिखे गए हैं। उपर्युक्त प्रबन्ध काव्योंमें जैसा कि हम देख चुके हैं कृष्ण, राम तथा बुद्धके जीवन-चरित्रोंको लेकर ही कथाका विकास हुआ है, पात्र विशेषपर कविका अधिक आग्रह होनेके कारण यदि उसकी जीवनाभिव्यक्ति अधिक विस्तारके साथ हुई हो, तो यह बात दूसरी है। इन काव्योंके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रबन्ध-काव्य भी इन्हीं चरित्रोंको लेकर रचे गए हैं। यहाँ सर्व प्रथम इनके परिचय देनेकी आवश्यकता इसलिए समझी गई कि हिन्दी-साहित्यमें इनकी पर्याप्त चर्चा रही है। इनके परिचयमें कालक्रमका विशेष ध्यान नहीं रखा गया है; द्विवेदीयुगमें इन चरित्रोंको लेकर उपर्युक्त विवेचित प्रबन्धोंके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्य भी पाये जाते हैं। आगेके पृष्ठोंमें हम उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

कृष्ण चरित्रको लेकर चलनेवाले प्रबन्धोंमें 'उद्धव-शतक', 'भ्रमरदूत', 'द्वापर', तुलसीराम शर्माका 'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण' तथा कृष्णायन' मुख्य हैं। काल क्रमकी दृष्टिसे तुलसीराम शर्माका 'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण' तथा द्वारिका-प्रसाद मिश्रका 'कृष्णायन' छायावादी और प्रगतिवादी-युगकी रचनायें हैं। प्रसंगवश इनका उल्लेख यहीं समीचीन जान पड़ा। विषय प्रतिपादन एवं शैलीकी दृष्टिसे भी ये द्विवेदीयुगके निकट हैं। विज्ञ पाठकोंसे हम एक निवेदन और यह करना चाहेंगे कि यहाँ पर हम उन सभी प्रबन्धोंका परिचय प्रस्तुत करना चाहेंगे, जो द्विवेदीयुगीन काव्यादर्शों एवं शैलीगत विशेषताओंको लेकर चले हैं। निर्माणकी दृष्टिसे चाहे वे किसी भी युग या कालमें पड़ते हों।

अन्य कृष्ण काव्य—'उद्धव शतक'—ब्रज-भाषामें लिखा गया है। वस्तुके विस्तार एवं संघटनकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण न होकर उक्तियोंकी

मार्मिकता तथा भाषाके परिमार्जनकी दृष्टिसे स्तुत्य है। वस्तुतः रत्नाकरजीकी यह कृति 'प्रगीति-मुक्तकों' के निकट अधिक है और प्रबन्ध-काव्योंके निकट कम।

'भ्रमर दूत'—कविरत्न सत्यनारायणजीकी कृति है। कविताका मुख्य विषय भारतकी दयनीय दशा है। कृष्ण मथुरासे द्वारिका चले गए हैं। पुत्र-विरहसे कातर यशोदाकी समझमें नहीं आता कि किससे सन्देशा भेजें। इसी बीच एक भौंरा आ जाता है, उसीसे कृष्णके पास सन्देशा ले जानेका आग्रह किया गया है। यह सन्देश वस्तुतः देशकी तात्कालिक दरिद्रता, अशिक्षा, कलह और द्वेषकी कहानी है। कविने उस सांस्कृतिक संघर्षकी ओर संकेत कर दिया है, जिसमें प्रबल विदेशी संस्कृतिसे आक्रान्त होकर जातीय ज्योतिका दीपक धीरे-धीरे बुझ रहा है। भाषा परिमार्जित ब्रज है। शैली-दृष्टिसे नन्ददासके भ्रमर गीतका स्तुत्य अनुकरण है। प्रबन्ध संघटन शिथिल है। सब मिलाकर यह एक लम्बी कविता ही अधिक है। प्रबन्धकाव्य या महाकाव्य नहीं। 'उद्धव-शतक' और 'भ्रमर दूत' इन दोनोंका परिचय महाकाव्यान्तर्गत केवल प्रसंगवश ही दिया गया है। इसके लिए पाठक क्षमा करेंगे।

'द्वापर'—इसमें कविने द्वापरयुगके कतिपय विशिष्ट व्यक्तियोंकी मानसिक वृत्तियोंके उद्घाटनका प्रयत्न किया है। यशोदा, राधा, नारद, कंस कुब्जा आदिकी अन्तर्वृत्तियोंका मार्मिक चित्रण है। नारद और कंसका चित्रण विशद है। प्रबन्धकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व नहीं है।

'पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण'—तुलसीराम शर्माने श्रीकृष्ण-चरित्रके विविध अंगोंको लेकर इस बृहत् काव्य ग्रन्थकी रचनाकी है। इसमें कुल आठ अंग हैं। इसका महत्त्व आधुनिक समस्याओंके समावेशमें है। श्रीकृष्णके उद्धव द्वारा दिये गये संदेशमें आजका युग बोल रहा है:—

> 'दीन दरिद्रोंके देहोंको मेरा मन्दिर मानो।
> उनके आर्त उसासोंको ही वंशीके स्वर जानो।।'

भाषाकी प्रौढ़ता एवं काव्यकी दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वका नहीं है।

'कृष्णायन'—द्वारिकाप्रसादजी मिश्रकी यह कृति आधुनिक प्रबन्धोंमें श्रीकृष्ण-चरित्रको उसकी सम्पूर्ण विशदताके साथ उपस्थित करनेमें पूर्ण

सफल हुई है। शैली की दृष्टिसे रामायणका पूर्ण अनुगमन किया गया है महाकाव्यके अन्य उपकरणोंका भी समावेश है। प्रबन्ध-धारामें शैथिल्य नहीं दिखलाई पड़ता। आधुनिक-युगमें लिखे गए कृष्ण-चरित्रोंमें प्रबन्ध-संगठन एवं कथावस्तुके विशद विन्यासकी दृष्टिसे कदाचित् यह सर्वोत्कृष्ट है।

अन्य राम काव्य—रामचरित्रको लेकर विरचित अन्य प्रबन्ध-काव्योंमें 'वैदेही वनवास', रामचरित उपाध्यायका 'राम-चरित-चिन्तामणि', बलदेव-प्रसाद मिश्रको 'कोशल-किशोर' और 'साकेत-सन्त' तथा पं० रामनाथ ज्योतिषीकी 'श्रीरामचन्द्रोदय' उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

"वैदेही वनवास"—"हरिऔध" का यह वृहत् प्रबन्ध उत्तर-रामचरित' की पृष्ठभूमिमें सीता-निष्कासनकी कथाको लेकर लिखा गया है। कथाकारने पूर्ववर्ती कवियोंसे भिन्न मूल कथानकमें कुछ परिवर्तन भी किया है। निष्कासनका रहस्य सीता पर प्रकट कर देना, सीताकी अन्य बहिनोंका साथ चलनेका आग्रह, वशिष्ठका पत्र द्वारा वाल्मीकिको इस घटनाकी पूर्व सूचना, शत्रुघ्नका बीचमें सीताको उनके वियोगके कारण पारिवारिक जीवनमें व्याप्त वेदनाका वर्णन, आत्रेयी द्वारा पूर्व-जीवन-वृत्त संग्रहका प्रयासादिकविकी काल्पनिक उद्भावनाएँ हैं। सम्पूर्ण कथाका अधिकांश घटित न होकर वर्णित है।

कविका दृष्टिकोण सुधारवादी है। वह रामको महापुरुषके रूपमें ही ग्रहण करता है। उन्हें अलौकिकताओंसे मुक्त कर देता है। उनका एकमात्र उद्देश्य "लोकाराधन" दिखाया गया है। इसी 'लोकाराधन' के कारण सीताका परित्याग किया गया है। कविने रामके इस कृत्यका वशिष्ठ और वाल्मीकि दोनोंके द्वारा समर्थन कराया है। स्वयं सीता प्रभुकी आज्ञा मानकर इससे सहमत हो जाती हैं। इन समर्थकोंके द्वारा कदाचित कवि यह स्पष्ट करना चाहता है कि आधुनिक प्रजातन्त्रका सिद्धान्त भारतीय आदर्शोंमें देखा जा सकता है।

स्त्रियोंका त्याग और कर्त्तव्य-पालनादि गुणों, दाम्पत्य-जीवनकी मधुरता तथा उच्चता, जीवनमें सदाचारकी महानता, भौतिकतासे ऊपर उठकर आध्यात्मिक जीवनकी प्रतिष्ठा आदि अन्य आदर्शोंके ग्रहण करनेका उपदेश भी कवि

ने यथावसर खूब किया है। वर्णनकी विशदता, कथाकी एकांगिता तथा इस उपदेश बहुलताने काव्यकी समवेदनशीलता समाप्त कर दी है।

ग्रन्थकी समाप्ति १८ सर्गोंमें हुई है। महाकाव्यके बाह्य उपकरणोंका सङ्घटन इसमें भी देखा जाता है। करुण-रसका परिपाक सुन्दर बनानेका प्रयत्न देख पड़ता है। सीताका चरित्र हिन्दू नारीकी समस्त उज्ज्वलताके साथ चित्रित है। प्रबन्ध सङ्घटन प्रियप्रवासकी अपेक्षा अधिक सतर्कतासे किया गया है। जीवनके विविध पक्षोंका अभाव खटकता है।

सीताके जीवनकी मार्मिकता भी कथानकमें किए गए परिवर्त्तनोंके कारण समाप्त हो गई है। वे स्वयं अपने वनवासकी स्वीकृति भी उसके रहस्यको जानकर भी दे देती हैं। ऐसी दशामें उनकी दुःखकातरता; भविष्य आशंका, तथा आश्रमकी एकान्त जीवनसाधना अपनी संवेदनशीलता खो देती है। किसी भी दृष्टिसे हम इसे सफल प्रबन्ध-काव्योंकी कोटिमें नहीं रख सकते।

'रामचरित-चिन्तामणि'—एक वृहत् प्रबन्ध-काव्य है। रामायणके राजनैतिक तथ्यों एवं विषयोंपर कविका विशेष आग्रह जान पड़ता है। भाषामें यत्र तत्र विदग्धताके दर्शन होते हैं। कुछ स्थान अच्छे जान पड़े हैं। प्रबन्ध-सङ्घटन साधारण है और शैली इतिवृत्तात्मक।

'रामचन्द्रोदय'—एक महाकाव्य कहा गया है। इसकी रचना व्रज-भाषामें हुई है। शैलीमें रामचन्द्रिकाके पाण्डित्यकी झलक मिलती है।

'कोशलकिशोर'—'सर्गबद्धो महाकाव्यम्' के सभी उपकरणोंसे समावेष्ठित है। कथा-धारा विष्णुके अवतारके लिए स्तुति करते हुए देवताओंके चित्रणसे आरम्भ होकर रामचन्द्रजीके युवराज-पद वर्णन पर समाप्त हुई है। इस काव्य-ग्रंथकी सर्वप्रमुख विशेषता है रामायणके सामयिक अध्ययनका दृष्टिकोण।

'अन्य बुद्ध काव्य'—'बुद्ध-चरित'को लेकर लिखे गए प्रबन्ध-काव्योंमें पं० रामचन्द्र शुक्लका 'बुद्ध-चरित' तथा अनूप शर्माका सिद्धार्थ महत्त्वपूर्ण है।

'बुद्ध-चरित्र'—सर्ग-बद्ध प्रबन्ध-काव्य है। इसमें भगवान् बुद्धका लोक-पावन-चरित्र उसी परम्परागत काव्य-भाषामें वर्णित है, जिसमें राधाकृष्णकी लीलाका अब भी घर-घर गान होता है। कथा संगठनमें ...

तथा संतुलन देखनेको मिलता है। फिर भी प्रबन्ध सौष्ठवमें ह्रासका प्र
प्रधान कारण स्वयं गौतमके जीवनकी अपूर्णता है। जीवनके कष्टोंसे खि
होकर एकान्त-साधना, व्यक्तिगत चिन्तन तथा स्वाध्याय और सदाचारि
व्यक्तित्वके विकासमें सहायक हो सकती है। लोक-जीवनको समस्त मर्यादाओं
का परिपालन करते हुए जीवनकी अनेक परिस्थितियोंमें हर्ष-विषाद, रा
द्वेष, उत्कर्ष-अपकर्ष, क्रोध दैन्य, घृणा-रति आदि वृत्तियोंको समेटकर जीवन
भौतिक सुखों और आदर्शोंमें पूर्ण दिव्यताकी प्रतिष्ठा बुद्धके जीवनमें सम्भ
नहीं। इसीके अभावमें कृष्णका लोकोत्तर दिव्य चरित्रभी प्रबन्धके लि
अधिक समीचीन न हो सका था, बुद्धके जीवनमें एक व्यक्तिके जीवनक
पूर्णता भले ही हो, पर जीवनकी पूर्णता नहीं है।

यह होते हुए भी 'बुद्ध-चरित' प्रबन्ध सौष्ठवकी दृष्टिसे आधुनिक ब्रज
भाषाके प्रबन्धोंमें सर्वश्रेष्ठ है। इसे स्वीकार करना ही होगा। इसका प्रकृति
चित्रण तो अपनी विशेषता रखता ही है।

'सिद्धार्थ'—भगवान् बुद्धका विशद जीवन १८ सर्गोंमें चित्रित है।
महाकाव्योंके आचार्यों द्वारा गिनाए गए अन्य सभी लक्षण भी पाए जाते हैं।
भाषा संस्कृत-बहुल है। रचना संस्कृतके अनेक वर्ण-वृत्तोंमें हुई है। लगता है
कि कविने प्रिय-प्रवासको आदर्श मानकर इसकी रचना की है। यह होते
हुए भी इसमें प्रबन्धात्मकता प्रिय-प्रवासकी अपेक्षा अधिक है। यदि 'सिद्धार्थ'
का कवि भाषाके अलंकरण उक्ति-वैचित्र्य, तथा बाह्य वर्णनकी ओर दृष्टि मोड़-
कर प्रसादकता तथा सरलता, संवेदना और मार्मिकता तथा अनुभूति एवं
भावुकताको अपना सका होता तो कदाचित् 'सिद्धार्थ' का काव्यत्व द्विगुणित
हो उठता। काव्यका सौन्दर्य अलंकरणकी कृत्रिमतामें अपनी महत्ता
खो बैठा है।

इन जगत विश्रुत अवतारोंके अतिरिक्त महाकाव्यों एवं प्रबन्ध काव्योंका
दूसरा महत्वपूर्ण विषय ऐतिहासिक महापुरुषोंका जीवन था। इतिहासके
उज्ज्वल पृष्ठोंकी ओर हमारा आकर्षण पुनर्जनित था। इस तथ्यकी मीमांसा
हम कर चुके हैं। ऐतिहासिक महापुरुषोंको लेकर प्रायः 'आख्यानक गीतियाँ'
खण्ड-काव्य ही प्रस्तुत किए गए थे। इनका परिचय हम दे चुके हैं।

वृहत् प्रबन्धोंकी रचना भी ऐतिहासिक वीरोंके उज्ज्वल चरित्रोंको लेकर हुई। इनमें गुरुभक्त सिंहकी 'नूरजहाँ' और 'विक्रमादित्य', मोहनलाल महतो वियोगीका 'आर्यावर्त्त' तथा श्यामनारायण पाण्डेकी 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

'नूरजहाँ'—गुरुभक्त सिंहकी यह अनुपम कृति नूरजहाँके महत्वपूर्ण ऐतिहासिक वृत्तिको लेकर लिखी गई है। कथाका संघटन सन्तुलित एवं आकर्षक है। प्रकृतिका हृदयग्राही एवं मनोरम रूप कथाके खण्ड चित्रोंकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। सब मिलाकर यह एक सफल प्रबन्ध है।

'विक्रमादित्य'—भारत विश्रुत प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके जीवन विषयक तथ्योंको ऐतिहासिक अन्वेषणों एवं व्यक्तिगत धारणाओंके आधारपर प्रस्तुत किया गया है, युद्ध-प्रेम, साहसिक यात्राओं, तथा कल्पना-प्रसूत अन्य अनेक मनोहर दृश्योंकी अवतारणासे इसे आकर्षक बनाया गया है। सम्पूर्ण पुस्तकमें कुल ४४ खण्ड-चित्र हैं। प्रबन्ध संघटन अच्छा है।

'आर्यावर्त्त'—भारतके अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराजके वीर चरित्रके पूर्णाङ्कनका स्तुत्य प्रयास है। कविका आग्रह तात्कालिक समस्त आर्यावर्त्तकी विच्छिन्न परिस्थिति एवं विश्रब्ध-विलास-अलस जीवनको मूर्त्त करनेका प्रतीत होता है।

'हल्दी घाटी'—वीर दर्पोद्धत महाराणाप्रतापके जीवनकी उज्ज्वल अभिव्यक्ति है। रचना १७ सर्गोंमें समाप्त हुई है। 'उत्साह'की अनेक अंतर्दशाओंकी व्यञ्जना तथा युद्धकी अनेक परिस्थितियोंके चित्रणसे पूर्ण यह एक महाकाव्य कहा गया है।

'जौहर'—पाण्डेयजीकी यह दूसरी महत्वपूर्ण कृति है। इसमें चित्तौड़की महारानी पद्मिनीके विश्व-विश्रुत जौहरव्रतकी कथा अङ्कित है। वीरता और करुणाका इतना सुन्दर सामञ्जस्य कम देखनेको मिलता है। गति एवं प्रवाहकी दृष्टिसे इसमें भाषाका परिमार्जन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। छन्द परिस्थितिकी विषमताके अनुसार छोटे और बड़े होते गए हैं। सब मिलाकर एक सफल प्रबन्ध है।

वास्तवमें ये सभी प्रबन्ध-काव्य वृहद् आख्यानक-गीति ही हैं। तात्विक

दृष्टिसे उन आख्यानक गीतियों, जिनका परिचय हम दे चुके हैं और इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। हाँ, कलेवर-वृद्धि तथा काव्यात्मकताका क्रमिक-विकास अवश्य देखनेको मिलता है। भावनाकी दृष्टिसे भी थोड़ा अन्तर अवश्य है। आख्यानक गीतियोंमें प्रायः जातीय भावनाका प्राधान्य है, किन्तु इनमें राष्ट्रीयताकी झलक स्पष्ट है।

रचनाकालकी दृष्टिसे प्रायः ये सभी कृतियाँ छायावादी युगकी हैं; किन्तु ये छायावादका प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। यद्यपि यह सत्य है कि इनमें द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकताका क्रमिक ह्रास तथा काव्यत्वका चरम विकास होता आया है, फिर भी तात्विक दृष्टिसे यह द्विवेदी-युगके अधिक निकट मानी जायगी।

देवी-देवताओंको लेकर प्रबन्धोंकी रचना न्यूनतम मात्रामें हुई। बौद्धिकताके प्रवेशने इन देवी-देवताओंपरसे हमारा विश्वास हटा दिया। उनके गुण, लीला, धाम आदि कपोल-कल्पना प्रतीत होने लगे। इस क्षेत्रमें गुप्तजीकी 'शक्ति' सुन्दर रचना है। देवगण महिषासुरके अत्याचारसे पीड़ित होकर क्षीरशायी विष्णुके पास जाते हैं। विष्णुके शरीरसे एक तेज-पुञ्ज निकलता है। अन्य देवताओंके शरीरसे भी वैसे ही तेज प्रदीप्त होते हैं। वे सब एकाकार हो शक्तिको जन्म देते हैं। वास्तवमें यह कथा रूपकके आधार पर चिरन्तन सत्यकी व्यञ्जना करती है।

पौराणिक आख्यान—पौराणिक आख्यानोंको लेकर भी कुछ प्रबन्ध-काव्य द्विवेदीयुगमें लिखे गए थे। इस क्षेत्रमें रत्नाकरका 'गंगावतरण' तथा 'हरिश्चन्द्र' गुप्तजीकी 'शकुन्तला' तथा पुरोहित प्रतापनारायणका 'नलनरेश' उल्लेखनीय हैं।

इन सभी पौराणिक आख्यानोंकी प्रबन्धात्मकता 'पूर्ण जीवनाभिव्यक्ति' की दृष्टिसे अधिक सफल नहीं हो सकी है। अतिरिक्त इन सभीको लेकर चलनेवाले पूर्ववर्ती संस्कृत-काव्योंके महत्वने इनको नूतन प्रकाशके अवतरण, विस्तारमें बाधाएँ भी कम नहीं उपस्थित की हैं।

छायावादी प्रवृत्ति—द्विवेदी-युगके पश्चात् हमारे काव्य-प्रवाहकी मोड़ 'छायावादी युग' के नामसे प्रसिद्ध है। इसे [illegible]

ग भी कहा गया है। द्विवेदी-युग स्थूलताका युग था। काव्य-शैली विवृत्तात्मक थी। जीवन विषयक दृष्टिकोण नीतिवादी एवं सुधारवादी था। प्रस्तुत जीवन हेय था। सुखकी खोज इतिहासके स्थूल चित्रोंमें की जा रही थी। जीवनकी समस्त शिवता विधि-निषेधकी ग्रंथियोंमें ही उलझी थी। बँधी हुई धाराका फूटना स्वाभाविक था और प्रतिक्रिया अनिवार्य। छायावादी कवि सूक्ष्मताकी ओर मुड़ा। वह जीवनके प्रति भावात्मक दृष्टिकोण लेकर चला। सुखकी खोज उसने कल्पनाके चलचित्रोंमें की। जीवनकी शिवताका आभास उसे जगतके विराट-सौन्दर्यमें मिला। गान्धीके नेतृत्वमें असफल राष्ट्रीय आन्दोलनों द्वारा प्रसूत एक व्यापक निराशा अंग्रेजी-साहित्यकी लाक्षणिक एवं प्रतीकवादी शैली, गीताञ्जलीकी सूक्ष्म एवं निगूढ़ रहस्यात्मकताने उसका पथ प्रशस्त किया। जगतके विराट स्थूल प्राकृतिक उपकरणोंमें उसे चेतनताका आभास हुआ। व्यक्तिके अन्तर्जगतकी गहनता उसने समझी, उसे मूर्तमें अमूर्तताके दर्शन हुए। आघातकी अपेक्षा स्पन्दन उसे अधिक महत्व पूर्ण लगा। इन सबने मिलकर उसे अन्तसकी निगूढ़-वृत्तियोंकी अभिव्यञ्जनाकी ओर प्रेरित किया और हिन्दी-साहित्य गीतिकाव्योंके सृजनसे गौरवान्वित होने लगा।

'कामायनी'—गीतकाव्योंके इस युगमें प्रबन्ध-काव्योंका सृजन अपवाद रूपमें ही सम्भव था; किन्तु नियम और अपवाद सामान्य और विशेषके पर्याय हैं। अस्तु इस युगमें भी हम 'कामायनी' जैसे चिर-अमर प्रबन्ध काव्यकी सृष्टिसे गौरवान्वित हुए। गीति-तत्वोंकी प्रचुरताके कारण कामायनीके प्रबन्धत्वमें प्रायः शंका की गई है। यह शंका सर्वथा निर्मूल है। 'कामायनी'में उस प्रकारका प्रबन्ध ढूँढ़ना जो व्यक्तिके विकासके लिए वह्द्धेर बड़नारहों के सूत्रीकरणमें देखा जाता है, भारी भूल होगी। 'कामायनी' व्यक्तिकी पूर्णतासे सम्बन्धित न होकर, मानवताकी पूर्णताका अनुसन्धान है। अब तक हमारे चिन्तनशील कवि पूर्ण-जीवन-दर्शनका समन्वय, व्यक्तिके वाह्य जीवनधारोंमें क्रमिक रूपसे विकसित व्यक्तित्वके साथ करते आये थे। तुलसीका 'मानस' इस कोटिके पूर्ण जीवन दर्शनके समन्वयका स्तुत्य प्रयास है। इस प्रकारके प्रयासमें मानवके कविका साफल्य बहुत कुछ इस तलवार भी निर्भर

था कि जीवनकी पूर्णता दिखानेके लिए उनके द्वारा यहाँ साहित्य स
किया था। परिस्थिति विशेषमें उनके आधार इतने ऊँचे नहीं उठ पाते हैं
जीवनको जटिल समस्याओंमें उनके मानसिक सन्तुलनको विकृत नहीं क
देती। धाम शक्ति, धाम सौन्दर्य एवं धाम शील एक ही व्यक्तिमें कि
प्रकार समन्वित हो सके। इन सभी प्रश्नोंका उत्तर 'मानस' के कविको नहीं
देना था। 'कामायनी' का कवि ऐसा नहीं कर सकता था। उसका युग
भौतिक था। उसे सभी कुछ मानवताकी सीमा रेखाओंके अन्तर्गत ही निर्दि
करना था। फलतः एक पूर्ण जीवन दर्शनकी प्राप्ति के लिए उसे मान-
वताका इतिहास टटोलना पड़ा।

'कामायनी' के कविकी सम्भवतः यह धारणा थी कि मानवताके विकास-में ही कहीं ऐसी त्रुटि अवश्य है, जो पूर्ण मनुष्यत्वके संयोजनमें बाधक होती है। इसकी इस धारणाके ठीक आधार भी हैं। वस्तुतः मानव रक्त-मांसका पुतला नहीं है। उसका अन्तस विविध मानसिक प्रवृत्तियोंसे स्पन्दित है। उसके प्रत्येक बाह्याचारमें यह प्रवृत्तियाँ प्रच्छन्न रूपसे कार्य करती हैं। अतः जीवनकी बाह्य परिस्थियोंमें सद्-असद्के विवेक द्वारा विधि निषेधमय आदर्श जीवनका संगठन तब तक अधूरा है। जब तक मनुष्यके बाह्य आचारोंका समर्थन उसकी अन्तर्वृत्तियोंके सन्तुलन द्वारा कराया जाय। 'कामायनी' के कविने कुछ ऐसा ही प्रयास मानसिक वृत्तियोंके क्रमिक विकासके स्तवन द्वारा किया है।

युग विशेषका मानव अपनी बाह्य क्रियाशीलतामें वृत्ति विशेषसे परि-चालित होता रहा है। इसे परिचालनकी प्रतिक्रिया उसे अपर वृत्तिके ग्रहण की ओर ले गई होगी। मानव द्वारा एक प्रवृत्तिके त्याग और अन्यके ग्रहणमें स्थूल जीवनके युगोंके प्रयोग सन्निहित होंगे। जातियोंका उत्थान-पतन, सामा-जिक व्यवस्थाओंका सृजन, अनेक राष्ट्रों एवं संस्कृतियोंका निर्माण यह सब मानवके युग प्रयोग हैं। मानवके इतिहासमें इनकी इयत्ता सतत प्रवहमाना शैवलिनिके सलिल सीकरों जैसी है।

· तो 'कामायनी' मानसिक वृत्तियोंके सूक्ष्म सत्यको उनके मूल्य चारुत्वमें

ग्रहण करनेका सफल प्रयास है। उसका प्रबन्ध सूक्ष्मताओंका प्रबन्ध है। वह भावात्मक अनुभूतियोंका रूपात्मक समन्वय है।

विशाल संसृतिके विविध विक्षुब्ध गोचर विधानोंके बीचमें आदि मानव अपने जीवनकी शून्यता एवं असहायावस्थाको लेकर अवश्य चिन्तित हुआ होगा। मानवके इतिहासका प्रथम चरण आदि मानवकी इसी चिन्तासे प्रारंभ होता है। और यहींसे कामायनीकी कथाका समारम्भ जलप्रावनके बाद मनु हिमवानकी चोटी पर चिन्ताग्रस्त बैठे हैं। धीरे धीरे आशाका उदय होता है और मनुका श्रद्धासे परिचय। किञ्चित काल तक मनु श्रद्धाके स्निग्ध स्नेहकी शीतलतामें सुखमय जीवन यापन करते हैं; पूर्व संस्कारवश मनुकी कर्मकी ओर प्रवृत्ति होती है। वे हिंसापूर्ण काम्य यज्ञ करने लगते हैं। श्रद्धाको इससे विरक्ति होती है। मनु श्रद्धाका समस्त सद्भाव अपनेमें ही केन्द्रित कर लेना चाहते हैं। इसके अभावमें उन्हें ईर्ष्या होती है। एक दिन वे श्रद्धाको छोड़ कर अपनी सुख-वासना लिये हुये चल देते हैं।

मनु उजड़े हुये सारस्वत प्रदेशमें पहुँचते हैं। वहाँ उनका इड़ासे साक्षात् होता है। मनु इड़ाके साथ शासन-व्यवस्था करने लगते हैं। बुद्धि रूपी इड़ाको अपनानेसे मनुका अहंभाव जाग पड़ता है। वास्तवमें इस प्रकार श्रद्धाके युगसे बुद्धि-युग तक मानव-यात्राका इतिहास प्रस्तुत हुआ है। बुद्धिवादी होने पर जैसा कि स्वाभाविक था, मनु नियामक बनकर स्वयं नियमोंसे परे रहना चाहते हैं। प्रजा विद्रोह करती है। देव शक्तियाँ विक्षुब्ध होती हैं। प्रलयङ्करका तीसरा नेत्र खुल जाता है। मनु युद्ध करते हैं और मूर्छित होते हैं।

श्रद्धा इस विप्लवका भयंकर स्वप्न देखती है। वह अपने बालक मानव को लेकर मनुको ढूँढ़ती वहाँ पहुँचती है। उसे देखकर मनुकी पूर्व स्मृति जाग उठती है। वे ग्लानिसे भर जाते हैं। वे रात्रिमें चुप-चाप चल देते हैं। श्रद्धा कुमारको इड़ाके हाथों सौंप पुनः मनुको ढूँढ़ने चलती है। मनु सरस्वती तट पर ज्योतिर्मय पुरुषका आभास पा रहे थे। मनुके भीतर एक नई चेतनाका उदय होता है। उन्हें 'इच्छा' 'ज्ञान' और 'क्रिया' के तीन पृथक्-पृथक् आलोक बिन्दु दिखाई पड़ते हैं। श्रद्धा मनुको इसका रहस्य समझाती है।

... जीवनका वास्तविक विडम्बन है। यह कह कर श्रद्धा स्मित हास्य करती है। ज्योतिकी एक रेखा तीन आलोक विन्दुओंको समन्वित कर देती है। मनु अनाहतनादके श्रवणमें आत्मविभोर हो उठते हैं।

इस रहस्यके पश्चात् आनन्द भूमि दिखाई गई है। अन्तमें इड़ा भी कुमारको लिए वहीं पहुँचती है और देखती है, पुरुष पुरातन-प्रकृतिसे मिला हुआ अपनी ही शक्तिसे उद्‌भूत आनन्द सागरके हिल्लोल में निमग्न है।

विश्वास-युगसे निकलकर बुद्धि-युगमें आये हुए उद्‌भ्रान्त विकल मानवकी जीवन विडम्बना तो कविके सम्मुख प्रत्यक्ष थी। आजके युगमें इस विडम्बना का आभास उसे मिल चुका था। आगे चलकर इस अवस्थाका जो समाधान कविने प्रस्तुत कियाहै, वह इच्छा क्रिया और ज्ञानका समन्वय है। यह समन्वय तथा तज्जनित आनन्दवादकी झलक वस्तुतः शैव-दर्शनके अनुसार है। फिर भी इस संसारके प्रति जो दृष्टिकोण वह अन्तमें प्रस्तुत करता है। वह उसके निश्चित एवं पूर्ण जीवन-दर्शनका परिचायक है। यह नहीं कहा जा सकता कि कवि द्वारा प्रस्तुत समाधान जीवनकी वास्तविक शान्ति दे सकेगा या नहीं, पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जीवनमें पूर्ण अवस्थाके लिए बुद्धि और हृदयका समन्वय करके तो चलना ही होगा। और विश्वकी इस समरसता—

> "अपने दुख सुखसे पुलकित, यह मूर्त विश्व सचराचर
> चितिका विराट वपु मंगल, यह सत्य सतत चिर सुन्दर"

और सत्यताके दर्शन-के लिए जीवनके बाह्य एवं अन्तर्पक्षका सन्तुलन अपेक्षित होगा ही।

अस्तु—'कामायनी' आधुनिक युगका चिर अमर प्रबन्ध-काव्य है। छायावादी-युगकी समस्त शैलीगत एवं विषयगत विशेषताओंका प्रतिनिधित्व करते हुए मानव और मानवता दोनोंकी समन्वित कथा-धाराका इससे सुन्दर विकास कदाचित सम्भव न था।

"तुलसीदास"—छायावादी-युगका दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध निरालाका " है। जिस प्रकार कामायनीके कविने मानसिक वृत्तियोंको मूर्त

करते हुए मानवताके विकासकी गाथा प्रस्तुत की है, उसी प्रकार 'तुलसी' के कविने व्यक्तित्वके विकासकी गाथा प्रस्तुत की है। मध्य-युगकी उद्भ्रान्त जनताको राम-कथाके रूपमें प्रौढ़तम जीवन-दर्शन देनेवाले कविका मानसिक सङ्घटन कितना सजग एवं सन्तुलित रहा होगा, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं गया था। कितने आन्तरिक उद्वेलनों, मानसिक संघर्षों तथा बौद्धिक प्रक्रियाओंके पश्चात् तुलसीका वाह्यजीवन आकाशकी असीमता तथा अन्तस् पयोधिकी प्रशान्तता पा सका था, नहीं कहा जा सकता है। 'निराला' जीने तुलसीके इसी अन्तस् विकासको एक क्रम देनेका प्रयास किया है।

कथाका सङ्घटन—तुलसीका प्राथमिक अध्ययन, पूर्व-संस्कारका उदय, प्रकृति-दर्शन और जिज्ञासा, नारीके प्रति आकर्षण और मोह, मानसिक संघर्ष, अन्तमें नारी द्वारा ही इन संघर्षों पर विजय प्राप्ति—इन्हीं कतिपय सूक्ष्म जीवन-तत्त्वोंके संयोजन द्वारा हुआ है।

'निराला' और 'प्रसाद' दोनोंने जीवनको उसकी समस्त सूक्ष्मताके साथ ग्रहण करनेका प्रयत्न किया है 'प्रसाद' ने जीवनको वाह्य प्रक्रियाको अन्तस् संघर्षकी प्रतिक्रियाके रूपमें देखा है। 'निराला' जीवनके प्रत्येक आन्तरिक विकासकी प्रेरणा वाह्य जीवनकी स्थूल जड़तासे लेते हैं। दोनोंका प्रयास अपने-अपने क्षेत्रमें स्तुत्य है, किन्तु भाषा एवं शैलीकी दृष्टिसे 'तुलसीदास'का कवि आज अकेला है। विश्वास न हो, तो सुन लीजिए तुलसीकी सुप्त चेतनाको उद्बोधित करनेवाला रत्नावलीका यह संदेश !

"तमके अमार्ज्य रे तार तार जो, उनपर पड़ी प्रकाश-धार,
जग वीणाके स्वरके बहार रे, जागो, इस कर अपने कारुणिक प्राण,
कर लो समक्ष देदीप्यमान गीत दे विश्वको रुको, दान फिर माँगो।"

प्रगतिवादी प्रवृत्ति—इधर हिन्दी-काव्य-धारा नवीतम मार्ग पर अग्रसर हुई है। इस नवीतम मार्गको प्रगतिवाद नाम दिया गया है। काव्यमें प्रगतिवादी दृष्टिकोण जीवनकी मार्क्सवादी व्याख्यामें अनुशासित है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण जीवनकी वर्तमान व्यवस्थाकी प्रतिक्रियाके रूपमें आया है। हिन्दी-काव्यमें इसका सुनिश्चित स्वरूप क्या होगा, नहीं कहा जा सकता

काव्य-जगतमें हमें इन प्रवृत्तियोंके प्रति एक प्रकारकी बौद्धिक सहानुभूति या समस्त प्राचीन मर्यादाओंके प्रति तीव्र असन्तोषके रूपमें ही व्यक्त पाते हैं। इस चिन्ताधाराके समागमने आजके कविको जीवन समस्याओंका समाधान आजकी आर्थिक विषमतामें ढूँढनेको बाध्य किया है। फलतः यह किंचित् स्थूल हो गया है। छायावादी कविने जीवनके स्थूल-विषम-जड़-स्तरोंमें परिव्याप्त सूक्ष्म-तरल एकताको पहिचाननेका प्रयत्न किया था, किन्तु प्रगतिवादी कविकी दृष्टि जीवनके बाह्य वैषम्य तक ही जाकर रुक जाती है। वह भावोंके रागात्मक सम्बन्धको त्यागकर विचारोंके द्वन्द्वात्मक वैषम्यको मूर्त करने लगा है। अतः उनका जीवन-दर्शन खंडित है। फलतः प्रबन्ध-काव्योंका अभाव इस नवयुगकी विशेषताओंमेंसे एक है।

युगकी इस नव प्रवृत्तिका प्रतिनिधित्व करनेवाला प्रबन्ध 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' है। भारतीय इतिहासके चिर अमर इस युद्ध क्षेत्रमें सद्धर्मयुगकी न जाने कितने प्रश्नोंके उत्तर छिपे हैं। आजके कविके मस्तिष्कमें भी—

'पापी कौन! मनुजसे उसका न्याय चुरानेवाला?
याकि न्याय खोजते विघ्नका शीश उड़ानेवाला?'

इस प्रकारके प्रश्न चक्कर कर रहे थे। 'कुरुक्षेत्र' इन्हीं प्रश्नोंका उत्तर प्रस्तुत करता है।

'वञ्चनको नर साध्य नहीं साधन जिस दिन जानेगा
जिस दिन सम्यक् रूप मनुजका मानव पहचानेगा'

कदाचित् उस दिन इस प्रकारके प्रश्न स्वतः समाप्त हो जायँगे। परन्तु मानव-जीवनके इतिहासमें इस मङ्गलमय दिनके समागमका कोई विधान है भी? यह दुराशा कविको किसी निश्चित समाधान पर नहीं पहुँचने देती। अतः वह आशाकी शरण लेता है—

'फूलों पर आँसूके मोती और अश्रुमें आशा
मिट्टीके जीवनकी छोटी नपीतुली परिभाषा'

इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' आदिसे अन्त तक विचारात्मक है। अतः उसके प्रबन्धकी एकता उसमें वर्णित विचारोंको लेकर है। प्रबन्ध काव्योंके सृजनमें ७ प्रकारका यह एक नूतन प्रयास है।

"महामानव"—इस अभिनव-युगके एक अन्य प्रबन्धका परिचय देकर हम प्रस्तुत प्रसंगको समाप्त करेंगे। यह काशीके एक नवयुवक कवि 'अग्रदूत' का 'महामानव' है। 'महामानव' आधुनिक जन-जागरणकी गाथा है। मंगलाचरणमें ही 'जन-जागरण' की वन्दना करके कविने इस ओर संकेत कर दिया है। इस जन-जागरणको भावनाके उदय, विकास एवं उन्नयन सभीमें युग-पुरुष गांधीके व्यक्तित्वकी अमिट छाप होनेके कारण कविने इसे 'महामानव' की संज्ञा दी है। जनतामें व्याप्त युग चेतनाके क्रमिक विकासकी यह गाथा अतीव भव्य है। गीतितत्त्वोंके प्राधान्यसे इसका प्रबन्ध भी प्रच्छन्न प्रतीत होता है। आधुनिक-युगमें प्रबन्ध-काव्य रचनाका यह अभिनव प्रयोग है।

वस्तुतः आजका मानव जीवन संकुल है। उसकी चेतना आकुल और जीवन-दर्शन अपूर्ण है। कविके सम्मुख अनेक प्रश्न-जाल बिखरे हुए हैं और जनताके सम्मुख कार्य जाल। न एक कह पाता है और न दूसरा सुन। फलतः काव्य-क्षेत्रमें प्रगीत-मुक्तकों, नाट्य-क्षेत्रमें एकांकी नाटकों तथा कथा-साहित्यमें स्वल्प गल्पोंका बाहुल्य आजके युगकी विशेषता है। ऐसी दशामें प्रबन्धोंकी विशेषकर वृहत्-प्रबन्धोंकी आशा दुराशा मात्र है। प्रबन्धोंकी रचना व्यक्तिके जीवनको लेकर अब सम्भव भी नहीं। आजका युग जनताका युग है। ठीक वैसे, हो, जैसे छायावाद-युग मानवताका था। 'मानवता' का प्रबन्धात्मक इतिहास प्रस्तुत करनेमें 'कामायनी' के कविको नये प्रयोग करने पड़े थे। प्रयोगकी इस दुरूहताके कारण ही छायावादी युगका अन्यकोई कवि ऐसा दुस्साहस नहीं कर सका। आज समस्त जनताके भावोंको प्रबन्धात्मकता देनेका प्रश्न है। 'महामानव' इस दिशामें एक पदन्यास मात्र है। इस क्षेत्रमें नये प्रयोग करने हैं। अतः हमें कुछ दिनों तक आज के युगका प्रतिनिधित्व करनेवाले बन्धुओंकी प्रतीक्षा करनी होगी।

प्रबन्ध काव्योंका भविष्य—अप्रासंगिक न होगा यदि हम आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें प्रबन्ध-काव्योंके [illegible] भी थोड़ा विचार कर लें। प्रबन्ध [illegible] मानवता द्वारा किये [illegible]

ये प्रयोग हमारे [illegible]

दार्शनिक चिन्तनों, धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक व्यवस्थाओं एवं सांस्कृतिक समन्वितियोंके रूपमें देखे जा सकते हैं! एक सफल प्रबन्ध-कार इन सभीको एक सूत्रात्मक अभिव्यक्ति देनेमें समर्थ होता है। अतः प्रबन्ध-प्रणेताके लिये अनन्त ज्ञान, सघन अनुभूति, उदार दृष्टिकोण, व्यापक व्यवहारकुशलता, सूक्ष्म विवेक एवं समस्त-जीवन-साधनका सम्बल प्राप्त करना अनिवार्य है।

आजका मानव-जीवन अपनी संकुलतामें जड़ हो रहा है। उसकी आकुल चेतना संघर्षोंमें अपना इतिहास ढूँढ रही है। अनुभूत प्रक्षन्नोंकी अभिव्यक्ति देनेमें संलग्न है। बुद्धि मिलके धूओंमें अपनेको साकार कर रही है, आजका काव्य प्रणेता कवि ऐसा ही मानव है, वह मनमें आँधीका उद्वेग तथा प्राणोंमें प्रलयकी हुंकार लेकर काव्यक्षेत्रमें आ रहा है। वह देखता है, किन्तु प्रत्यक्ष निकटतम अप्रत्यक्षको। वह सोचता है, किन्तु केवल आर्थिक अनिश्चयकी बात। तो क्या आजका यह कवि पूर्णजीवन-दर्शन दे सकेगा? क्या उसमें निर्माणके लिये अपेक्षित संयम और साधना है? निश्चय ही उत्तर संदिग्ध है और यह संदेह प्रबन्ध-काव्यके भविष्यको अन्धकारमय कर देता है।

हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं—नाटकोंके क्षेत्रमें 'एकांकी' की बाढ़ आ रही है। कथा-साहित्यमें छोटी कहानियाँ पानीके बुलबुलोंकी तरह बढ़ती आ रही हैं। काव्यमें "प्रगीत-मुक्तक" की परम्परा चल पड़ी है।

अतिरिक्त गद्य-युगके आगमनके साथ छापेकी मशीनोंके प्रचारने "प्रबन्धों" के एक प्रतिद्वन्द्वीको भी जन्म दे दिया है। यह है उपन्यास! जीवनकी समस्याओंको उठाने और समाधान प्रस्तुत करनेका यह एक सुगम-साधन मिल गया है।

ऐसी दशामें प्रबन्ध-काव्योंका जीवन केवल एक शब्दसे लिखा जा सकता है। वह है अनिश्चय!

प्रस्तुत निबन्धको समाप्त करते हुए हमें दो बातें विज्ञ-पाठकोंसे निवेदन करनी हैं। प्रथम तो यह कि इस छोटेसे निबन्धमें प्रतिपाद्य विषयके पूर्ण निर्वाह में स्थानकी अपर्याप्तता बाधक हुई है। प्रबन्ध-काव्योंका पूर्ण विवेचन न कर अनेकका स्वल्प परिचय-मात्र प्रस्तुत किया जा सका है। केवल 'प्रकार

विशेष'को लेकर चलनेवाले या प्रवृत्ति विशेषके परिचायक काव्योंपर ही कुछ कहा जा सका है। सम्भव है, छूट जानेवाले प्रबन्धोंकी संख्या भी पर्याप्त हो। इसके लिए लेखक क्षमाका अधिकारी है। दूसरे शब्दोंके परिचय प्रस्तवनमें उनके रचनाकालके पूर्वापर सम्बन्धका विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। परिचयकी पूर्ववर्तिता या परवर्तिताका कारण उनकी प्रवृत्ति विशेष या प्रकार विशेष ही है। आशा है, आधुनिक प्रबन्ध-काव्योंके इस परिचय प्रयास को विज्ञ पाठक प्रयास रूपमें ही ग्रहण करेंगे।

६—साहित्य एवं परिस्थिति

यद्यपि साहित्यकी अनेक परिभाषाएँ हो चुकी हैं, किन्तु संक्षेपमें हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि साहित्यकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवनके सम्पूर्ण पहलुओंकी आलोचना है। साहित्यमें एकांगी दृष्टिकोणको स्थान नहीं मिलता, क्योंकि तब वह अपनेमें अधूरा ही रह जाता है, अतः इसमें मानव-जीवनके व्यापकताकी संस्थापना रहती है, इसके उपक्षेपसे श्रेष्ठ साहित्यकी सृष्टि असंभव है और चूँकि साहित्यमें मानव-जीवनके समस्त पहलुओंकी विवृति होती है तथा मानव-जीवनके सम्पूर्ण पहलुओंका सम्बन्ध-सूत्र परिस्थितियोंको भी जोड़े रहता है, इसलिए परिस्थितियोंका प्रभाव साहित्यपर पड़े बिना नहीं रह सकता।

साहित्य चाहे काव्यके रूपमें हो, चाहे आख्यायिकाओंके; चाहे नाटकके रूपमें हो, चाहे निबन्धके; वह हमारे जीवनकी आलोचना करता है। हमारा जीवन स्वाभाविक एवं स्वतंत्र होकर इसीके माध्यमसे संस्कार ग्रहण करता हुआ अपनी मूकताको भाषा प्राप्त करता है।

साहित्यकारको जीवन-दर्शनकी महनीय चेतनाओंको सुन्दर कलात्मक ढंगसे संवाहित करनेके लिए साहित्यके अनेक क्षेत्रों—कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक एवं निबंध आदि—में उतरना पड़ता है जैसा कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीने अपने एक लेखमें महाकाव्यकी परिभाषा बताते हुए इसका निर्देश किया है :—

'विराट्-विश्वके हिरण्य-गर्भ कवियोंने जिस महान् सत्य शिव और

को मानव जीवनके लिए अत्यधिक गुरुतर महान् कार्य करनेमें प्रवृत्त किया गया महाकाव्य है। उसकी अभिव्यक्ति का ढंग प्रबन्ध-काव्य शैली है। महाकाव्यकी रचना जातीय, संस्कृतिके किसी महानाद, जनताके उद्गम, संक्रम, प्रगम, किसी महत् चरित्रके विराट् उत्कर्ष, अथवा आत्मगौरवके किसी विस्मयभूत तथ्यको प्रदर्शित करनेके लिए प्रबन्धकाव्य-शैलीमें की जाती है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य मानवके चेतनायुक्त जीवनका एक अङ्ग है। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक युगमें वस्तुतः साहित्य शाश्वत होते हुए भी इसके स्वरूपमें परिवर्तन क्यों आ जाता है? इसका कारण है—हमारे सामाजिक, भौतिक जीवनमें परिवर्तन होते रहते हैं, युगके साथ-साथ हमारी आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं और इनके साथ-साथ साहित्यमें भी विकार आ जाना स्वाभाविक है। विभिन्न सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियोंसे प्रेरणा पाकर वीरगाथाकाल, भक्तिकाल—निर्गुण—ज्ञानाश्रयी, प्रेम मार्गी; सगुण—रामभक्ति, कृष्णभक्ति एवं रीतिकाल आदि काव्यकी धाराओंका फूट निकलना इसका साक्षी है।

आचार्य शुक्लजी लिखते हैं, 'जब कि प्रत्येक देशका साहित्य वहाँकी जनताकी चित्तवृत्तिका संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनताकी चित्तवृत्तिके परिवर्तनके साथ-साथ साहित्यके स्वरूपमें भी परिवर्तन होता चला जाता है।....जनताकी चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितिके अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियोंका किञ्चित् दिग्दर्शन भी साथ-ही-साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टिसे हिन्दी-साहित्य की विवेचना करनेमें यह बात ध्यानमें रखनी होगी, कि किसी विशेष समयमें लोगोंमें रुचि विशेषका संचार और पोषण किधरसे और किस प्रकार हुआ।'[2]

यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो उपरोल्लिखित मान्यताएँ किसी विशेष साहित्यकी ही नहीं हैं, वरन् विश्वके समस्त जीवित भाषाओंके साहित्य पर भी लागू हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूपमें हम हिन्दी-साहित्यको ले सकते हैं।

१—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीकृत—'बीसवीं शताब्दी' देखिए।
२—हिन्दी साहित्यका इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृ० सं० १

महाभारतके महासमरके पश्चात् सारा भारत महामैत्री एवं महाकरुणाकी पवित्र भावनाओंकी ओर अभिमुख हुआ। कालांतरमें बौद्ध-साहित्यने इन्हीं तत्वोंका संवहन कर देशको प्रभावित किया और आगे चलकर जब धार्मिक क्षेत्रमें सहजयानी सिद्ध, हठयोग एवं स्मार्तवैष्णव आदि धाराओंका प्रवाह चल रहा था, तब भाषाकी दृष्टिसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदिके सम्मिलित रूपका ही प्रचलन था। संस्कृत विद्वानोंकी तथा अपभ्रंश सर्वसाधारणकी जनताकी भाषा थी। मौलिक रचनाएँ इस कालमें बहुत कम हुईं। केवल टीका, भाष्य एवं मीमांसाका ही बाहुल्य था। हाँ, आगे चलकर कुमारिल भट्टकी तन्त्र-वार्तिक, श्रीशङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत, श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत, माघकी शिशुपाल-वध, श्रीहर्षकी नैषध-चरित, बाणभट्टकी कादम्बरी एवं भवभूतिके नाटकोंकी रचनाएँ इसी समयकी हैं और प्राकृत-भाषामें बौद्ध एवं जैन धर्मोंके ग्रन्थोंका भी निर्माण इसी समय हुआ।

संस्कृत-साहित्यमें इस समय दो प्रकारकी रचनाएँ नीति एवं शृंगारकी मुक्तक एवं स्तोत्रके रूपमें मिलती हैं।

कालान्तरमें सम्राट् हर्ष-वर्द्धनकी मृत्युके पश्चात् हमारा देश अनेक खण्ड-खण्डोंमें विभाजित हो चुका था (संवत् ७०४)। उस समय देशी रियासतोंके राजे-महाराजे आपसमें मनोमालिन्यताके कारण युद्धकी स्थिति उत्पन्न कर दिया करते थे। कभी-कभी तो राज्य विस्तारके लिए और कभी-कभी सुन्दरी राजकुमारियोंके सन्देश पाकर अपने शौर्य प्रदर्शन (कन्याहरण)के लिए युद्ध करते थे। इसका प्रभाव उस समयके साहित्यकारोंपर इस प्रकार पड़ा कि वे साहित्यमें युद्धोंके वर्णनसे वीररस प्रधान कविताएँ लिखते थे, साथही-साथ किसी अनिंद्य सुन्दरीके अपहरणसे शृंगारिकताकी भी पुट उनकी रचनाओंमें अनायास ही आ गई है। इस प्रकारसे देखनेपर यह समय अशान्ति, युद्ध एवं वीरता प्रधानका था। इस समय चारण (भाट) साहित्यमें अपने आश्रयदाताकी स्तुति, सुन्दरी राजकुमारियोंके स्वयम्वर, विजय प्राप्ति एवं युद्ध सम्बन्धी वीरोचित वर्णन करते थे। इस कालके साहित्यमें चार प्रकारके विवरण मिलते हैं—सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य और चारण-साहित्य।

१—सिद्धोंका साहित्य—(७०० से १००० ई० तक) इसमें वज्रयान शाखाकी योगतान्त्रिक एवं साम्प्रदायिक प्रचारकी भावना मात्र पाते हैं।

२—नाथ-साहित्य—(१००० से १४०० ई० तक) इसमें योग-साधना, ६ नाथोंका परिचय, मंत्र, तंत्र, ८४ सिद्ध, हठयोग एवं साम्प्रदायिक प्रचारकी भावना पाते हैं।

३—जैन-साहित्य—(१००० से १४०० ई० तक) इसमें भी साम्प्रदायिक प्रचार, एवं नीति सम्बन्धी रचनाएँ हुई हैं।

४—चारण-साहित्य—(१००० से १४०० ई० तक) इसमें वीर एवं शृंगार रसकी रचनाएँ हुई हैं। इस समयकी मुख्य रचनाएँ खुमानरासो, बीसलदेव रासो, (वीरगीति-काव्य) पृथ्वीराजरासो (प्रबन्धात्मककाव्य), आल्हाखण्ड (वीरगीति-काव्य) एवं हम्मीर रासो आदि हैं।

वास्तवमें यह वह समय था, जब कि साहित्यकारोंके एक हाथमें लेखनी थी, तो दूसरे हाथमें तलवार भी खनखना रही थी। यही कारण है कि इस समयकी रचनाओंमें युद्ध-वर्णनों, शस्त्रों, घोड़ों, रथोंकी सजावटों एवं युद्धोंकी विकटताओंका ही विवरण मिलता है। इसके अतिरिक्त इस समयके साहित्यकार अपने आश्रयदाताओंकी स्तुति एवं दानशीलताका भी वर्णन करते थे। कालान्तरमें राजनीतिक उलट-फेरके कारणस्वरूप देशमें जब मुस्लिमसत्ता स्थापित हो जाती है और मुसलमानोंकी सभ्यता एवं साहित्यका प्रभाव भी होने लगता है तथा हाथमें नङ्गी तलवार लेकर मुसलमान अपने धर्मकी संस्थापना करने लगते हैं, तब यवनोंकी संस्कृतिके प्रभाव एवं घोर अत्याचारोंके कारण दलित भारतीय जनता धर्मकी आड़में अपनी रक्षाकी आशा करने लगती है और खोया हुआ आत्मबल भगवान्‌के स्मरणसे पुनः प्राप्त होने लगता है। परतन्त्रतासे उत्पन्न नैराश्यकी भावनाओंका विध्वंस करनेके लिए, साहित्यकार हिन्दू जनताकी उजड़ी हुई धार्मिक भावनाओंको पुनः स्थापित करनेके लिए अपनी रचनाओंके माध्यमसे प्रयत्न करने लगते हैं। इस समयकी साहित्यिक रचनाएँ धर्म-प्रधान हो उठती हैं।*

* यद्यपि ये धार्मिक भावनाएँ नयी नहीं थीं, किन्तु इस समय इनका प्रबल था।

देशमें वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, नामदेव आदि सन्तोंका प्रादुर्भाव इसी समय होता है और साकार-निराकार, उपासना, वेदान्त, एकेश्वर, पूर्णब्रह्म, आत्मा-परमात्मा, द्वैत-अद्वैत एवं हठयोग आदिका प्रचार खूब ज़ोरों पर होने लगता है।

साहित्यमें इस समय प्रबन्धगीति, मुक्तक, खण्ड-काव्य, एवं महाकाव्य आदि ग्रन्थोंका निर्माण हुआ। इसमें राम-कृष्णके सगुण स्वरूपकी भावनाओंका प्रचार एवं संतमत—निर्गुण-निराकार स्वरूपकी उपासना-साधना आदिकी अधिकता पायी जाती है। इस समयके प्रतिनिधि कवि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी एवं मीरा आदि हैं।

कबीर, सूर, एवं मीरा आदिकी रचनाएँ मुक्तक हैं एवं प्रबन्धात्मकता तो जायसी तथा तुलसीदासकी रचनाएँ 'पद्मावत' एवं 'रामचरित-मानस' में ही है। विचार किया जाय, तो कहा जा सकता है कि वीरगाथाकाल हिन्दू संस्कृतिका युगान्तरकाल था। बादमें मुस्लिम अत्याचारोंके पश्चात् भक्तिकाल आता है, जिसमें हमारा काव्य साहित्य बहुत उन्नत और व्यापक हो चला था। इसके बाद जब मुसलमानोंका अखण्ड राज्य देशमें स्थापित हो जाता है और हिन्दू-मुस्लिम दोनों संस्कृतियोंका आदान-प्रदान हो रहा था, तब मुसलमान सम्राटोंकी विलासिताका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ता है। उस समयके कवि अपने आश्रयदाताओंको प्रसन्न करनेके लिए मनोविनोदार्थ ही काव्यको रचना करते थे। नायक नायिका भेद सम्बन्धी कविताएँ लिखकर वे शृङ्गारके अङ्गों-उपाङ्गों पर अपने विचार प्रकट किए, बादमें होनेवाले कवियोंने जब हमारे साहित्यकी श्रीवृद्धि मौलिक चिन्तनों द्वारा हो चली थी, तब काव्य-साहित्यकी प्रचुरताको नियमों और रीतिमें बाँधनेका प्रयास किया गया। इसीको रीतिकालके नामसे जाना जाता है। इस समयकी रचनाएँ राधा-कृष्णकी ओटमें भी शृङ्गार, कामुकता एवं विलासिताके लांच्छनसे दूषित हो उठती हैं। इसका कारण था—राधा-कृष्णके जिस कल्याणकारी प्रेमकी सृष्टि सूरने का थी, वैसे अपार्थिव प्रेमको अन्य कवि न अपना सके। इस युगके कवियोंकी कविताओंमें जीवनका वह सत्य नहीं है, जो भक्तकालीन अन्य कवियोंकी कविताओंमें पाया जाता है। इस समयके कवियोंने तो केवल शृङ्गार-वर्णन ही १०।

बड़ा बना लिया था; ये साहित्यके निरञ्जन तत्त्वको तो भूल ही गए थे। इस समयकी रचनाएँ अनुप्रासों, उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं, रूपकों एवं उस समयके राजदरबारोंके विलास-वैभवकी अभिव्यक्तिके लिए हैं, जो तलवारोंकी खनखनाहटोंके स्थानपर विलासिताके घुंघरुओंकी ध्वनियोंसे अनुरणित हैं।

रीतिकालकी समाप्ति तक मुस्लिम सम्राटोंकी जगह अंग्रेजोंकी सत्ता स्थापित हो चुकी थी और इसी समय लल्लूलालजी, इंशाअल्लाखाँ, सदासुखलाल और सदल मिश्र आदिके सहयोगसे हिन्दीमें अब एक दूसरे अंग (गद्य-दिशा) की ओर झुकाव होता है। मुसलमानोंके बाद देशमें जो नई सत्ताकी स्थापना होती है, उसके आरम्भिक कालमें हिन्दी-साहित्यकी प्रगति एक बार रुद्ध-सी हो जाती है, क्योंकि शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी-भाषा एवं उर्दू राजभाषा बना दी गयी। कालान्तरमें राजा शिवप्रसादने हिन्दीको भी शिक्षामें स्थान दिलाया। इसके अनन्तर पुनः भारतेन्दुजीका उदय हमारे हिन्दी-साहित्यके लिए वरदान हुआ। इसके द्वारा हिन्दी साहित्यके अनेक अंगोंका पोषण हुआ। यद्यपि भारतेन्दुसे ही नाटक और अन्य क्षेत्रोंमें कार्य होने लगा था; किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीके समयसे हिन्दीमें नाटक, उपन्यास, कहानी एवं निबंधकी प्रगति भलीभाँति होने लगी। अब हिन्दीमें अनेक पत्र-पत्रिकाओंका भी जन्म होने लगा।

१९वीं शताब्दीके समाप्त होते-होते देशमें बँगला-काव्यका प्रभाव पड़ने लगता है। माइकेल, विहारीलाल, हेमचंद्र और रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी रचनाएँ हिन्दी-जगत्‌में प्रसार पाने लगीं। इनमेंसे रवीन्द्रकी कविता पर अंग्रेजी स्वच्छन्दवाद, उपनिषदोंके रहस्यवाद, बँगलाकी भावुकता एवं वैष्णव-भक्तिका प्रभाव था। आगे चलकर इनका प्रभाव हिन्दी कवितापर भी पड़ा। इस समय 'सरस्वती'में कीट्स, शैली, वर्डसवर्थ, ब्लेक आदि अंग्रेजी रोमांटिक कवियोंकी रचनाओंके अनुवाद प्रकाशित होने लगे थे, जिसका प्रभाव अनुवादकों एवं इस समयके कवियों पर स्पष्ट रूपसे पड़ा।

इस समय अंग्रेज़ीकी उच्च कक्षाओंमें रोमांटिक-काव्य पढ़ाया जाने लगा था और हिन्दीके कवियोंसे इसका परिचय पहले ही हो चुका था, जो इस द्वारा अँग्रेजी रोमान्टिक काव्यका प्रभाव मुख्य रूपसे हिन्दीके कवियों पर पड़ा।

पन्त और निरालाजी, दोनों रवीन्द्रनाथ ठाकुरके काव्यसे प्रभावित हैं। निरालाजीके काव्यमें विवेकानन्दके अद्वैतभक्तिका भी प्रभाव दीखता है। प्रसादने रवीन्द्रनाथकी गीतांजलीसे प्रचुर मात्रामें प्रेरणा ली। आगे चलकर प्रसादजीने उर्दू काव्यकी व्यञ्जनाशैली और भावुकता, संस्कृत-मुक्तकों एवं आचार्योंकी स्थापनाओंसे निर्देश लेकर अपनी एक विशिष्ट काव्यशैलीका निर्माण किया।

इस समय हिन्दी-काव्यमें जो विशेष क्रान्ति हुई, इसमें रवीन्द्रनाथठाकुर एवं विवेकानन्दका बँगला काव्य, १६वीं शताब्दीके अँग्रेजी रोमांटिक कवियोंके काव्य, ध्वनि प्रधान लाक्षणिक शैली, उर्दू काव्यकी व्यञ्जनाशैली और भावुकता, प्रकृतिकी ओर स्वाभाविक एवं रहस्यात्मक आकर्षण, दर्शनशास्त्र और उपनिषदोंके अध्ययनका प्रभाव, रीतिकालके प्रति प्रतिक्रिया (वासनामूलक स्थूल सौन्दर्यसे हटकर सूक्ष्म सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति), व्यक्तिगत सुख दुःख और बुद्धि-प्रसूत चिन्तन (व्यक्तिवाद) का प्रभाव, एवं रसात्मकता तथा अनुभूति पर बल (द्विवेदीयुगके काव्यके प्रति प्रतिक्रिया) के प्रभावने छायावादको बहुत बड़ी मात्रामें प्रेरणा दी।

रीतिकालमें साहित्यका विषयक्षेत्र जो अत्यन्त संकुचित हो उठा था, आधुनिक युगमें वह पुनः अपना प्रसार पाने लगता है। वास्तवमें भारतेन्दुजीने जीवन और साहित्यके टूटे हुए सम्बन्ध-सूत्रको फिरसे जोड़ दिया। जिसके परिणामस्वरूप उस समयके जीवनका आशा-निराशा, आवेग-उद्वेग एवं संघर्ष-प्रहर्ष साहित्यमें अपनी अभिव्यक्ति ढूँढ़ने लगे। जिससे साहित्यके नवीन अंगोंका विकास होने लगा और रीतकालकी खुमारीमें आँखें मलता हुआ हिन्दी-साहित्यका आधुनिकयुग, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचनाके वातायनोंसे झाँकनेका प्रयास करने लगा। राज भक्तिके भार से देरता हुआ राष्ट्रीयताका स्वर मार्ग ढूँढ़ने लगा। तत्कालीन लेखकोंकी दृष्टि उस समयके समाजकी कुरीतियों एवं रूढ़ियों पर पड़ी जिसकी जीर्ण-शृङ्खलासे बँधा भारतीय सामाजिक सङ्गठन हिलने लगा था। समाजमें अब तक दबी हुई शक्तियोंका उभाड़ एवं समस्याओंकी पुकार उनसे टकराने लगी। विधवा-बाल-वृद्ध-विवाह, अछूतोंकी समस्या, विदेशियों द्वारा धनका शोषण और गोरक्षा आदि विषय अब साहित्यमें स्थान पाने लगे।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज-आन्दोलनने जिस प्रकार उस समयके समाजको प्रभावित किया, उसी प्रकार हिन्दीके साहित्यिकोंको भी विज्ञानकी विश्लेषणात्मक प्रवृत्तिके प्रसार एवं मुद्रणकलाके विकासके साथ साथ अब तकके पद्यप्रधान हिन्दी-साहित्यकी भावुकताके साथ-साथ चिन्तन की भी वृद्धि हुई और गद्य भी हिन्दी साहित्यके एक महत्वपूर्ण अङ्गके रूपमें विकसित होने लगा। आचार्य द्विवेदी जैसे अभिभावककी छायामें खड़ीबोली का साहित्य-कुमार उनकी विशुद्धवादिता एवं उच्चादर्शप्रियताके अनुकूल संस्कार ग्रहण करने लगा। 'भारत-भारती'की पुकार, 'शकुन्तला'की मनुहार एवं 'जयद्रथ वध'के उत्साहके फूलोंकी अञ्जलि लेकर साहित्य-मन्दिरकी सीढ़ियों पर चढ़नेवाले गुप्तजीने उसके गलेमें जो प्रसाद-माला डाली, उससे वह और भी मस्त हो उठा। उसकी इतिवृत्तात्मक जिज्ञासाएँ जग गईं। जीवनके शिष्टाचार एवं उच्चादर्शोंसे भी उसका परिचय हो चुका था, किन्तु फिर भी जीवनके अन्तस्सरोवरमें डुबकी लगाकर उसके मणि-मोतियोंको परखनेकी क्षमता नहीं आ पाई थी। यही कार्य छायावाद द्वारा पूरा होना था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्विवेदीयुगीन-काव्य रीतिकालीन प्रवृत्तियोंकी प्रतिक्रियामें विकसित हुआ था। 'राधा-गोविन्द सुमिरन'के बहाने मांसल-वासना एवं स्थूल शृंगारके विषयमें जो कुछ कहा गया, वह सबका सब किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं। उसने भारतीय साहित्यकी दृष्टिको एकांगी बना डाला। कवियोंकी दृष्टिमें कथ्य-अकथ्यका भेद ही मिट गया। शृंगारके इस महाप्लावनमें आकुल व्याकुल हिन्दी-साहित्यके पथिकको आचार्य द्विवेदीने फिरसे जीवनके कूलपर ला खड़ा किया। किन्तु शृंगारके उस अनुचित बाहुल्यके विरुद्ध द्विवेदीजीका प्रयास भी प्रतिक्रियाकी सीमाओंको छूने लगा। प्रेम और शृंगारकी ओर दृष्टि जाते ही हिन्दीके साहित्यकार भयसे काँपने लगते थे। यही कारण था कि द्विवेदी युगके साहित्यमें जीवनका भेयस जितना ही उभरा, प्रेयतत्त्व उतना ही दब गया। मानवका बहिर्जगत तो प्रौढ़ अभिव्यक्ति पा रहा था, किन्तु अन्तर्जगतकी ध्वनियाँ उमड़-घुमड़कर भीतर ही दब जाती थीं। दूसरे शब्दोंमें जीवनका स्थूल तो पूरे प्रकाश पा रहा था, किन्तु भीतर ही

आवर्जन स्फूर्जन करनेवाले उसके सूक्ष्मको वाणी नहीं मिल पा रही थी। छायावाद इसी स्थूलके प्रति सूक्ष्मका विद्रोह लेकर चला।

भारतीय-समाजकी यह वह स्थिति थी, जब प्रजातान्त्रिक भावनाएँ और व्यक्तिके महत्वको स्वीकार करनेवाली मान्यताएँ जड़ सामाजिक मर्यादाओंके विरुद्ध जन-जनके हृदयमें असन्तोष पैदा कर रही थीं। कथा-कहानियों एवं आदर्श चरित्रोंके साँचेमें अपनी प्रतिमाको ढालनेका अभ्यासी साहित्यकार अपने ही आत्माकी अभिव्यक्तिमुखी विद्रोहसे हिल उठा। विदेशी-पराधीनता एवं तत्कालीन भारतीय समाजके खोखले नियमोंकी निर्मम जड़ताने उनके हृदयमें व्यथाकी टीसें जगादीं।

प्रसादजीके शब्दोंमें वेदनाके आधारपर स्वानुभूतिकी यही अभिव्यक्ति छायावादके नामसे अभिहित हुई। छायावादी कविने वस्तुओंके वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा उसके अन्तःको प्रधानता दी। छायावादकी इस विशेष प्रवृत्तिके कारण स्थूल साम्यकी अपेक्षा वस्तुओंके आन्तरिक साम्यको प्रधानता मिली और मूर्त्तके लिए अमूर्त्त एवं अमूर्त्तके लिए मूर्त्तका विधान किया गया। वस्तुकी स्वरूपता और उसके भीतरसे मोती झलकनेवाले उसके पानीकी भाँति झलमलानेवाले उसके अन्तःसौन्दर्य—दोनोंकी अभिव्यक्तिके कारण ही छायावादमें उस लाक्षणिकता, व्यंजकता, प्रतीकात्मकता एवं उपचार-वक्रता